

# वादत्रयी

ज्ञानोपाह्वोऽवस्थी बच्चूलालः



कालिदास अकादेमी, उज्जैन

भारत ही एक कर्मभूमि है, जिसमें पुण्य तथा पाप का परलोक में फल मिलना अवश्यम्भावी माना गया है। पुनर्जन्म और कर्म दोनों सिद्धान्त बीजवृक्षवत् अन्योन्याश्रित हैं। मनुष्ययोनि ही कर्मयोनि है, शेष योनियों को भोगयोनियों कहा गया है। चार्वाकों को छोड़ कर सभी भारतीय दर्शनों में कर्म, कर्मफल तथा पुनर्जन्म का प्रतिपादन किया गया है। कर्मवाद शीर्षक से जो भाग प्रकाश में लाया जा रहा है उससे पाठकों को समझने और समझाने का अवसर मिलेगा यही कर्मवाद शीर्षक लेख की महती उपलब्धि है।

किसी ज्ञान का यथार्थ या अयथार्थ प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य कहा जाता है। प्रमा तथा अप्रमा को निर्धारित करने में दार्शनिक प्रस्थानों में वैमत्य है जिसका विवेचन प्रामाण्यवाद में किया गया है। शुद्ध शास्त्रीय निष्ठा रखने वालों के लिए ही यह उपयोगी शीर्षक है।

ख्यातिवाद शब्द में 'ख्याति' सविकल्प ज्ञान पर्याय है। कोई ज्ञान किस स्वरूप से प्रमाता के समक्ष आता है। किसी ज्ञान के प्रमात्व की ख्याति या प्रतीति तथा भ्रम एवं संशय की ख्याति में अन्तर होता है। यहाँ भी दार्शनिकों में मतैक्य नहीं है। वैचारिक प्रस्थानों में ख्यातिविमर्शित अन्तर पाया जाता है। सभी दर्शनों में होने वाले ख्यातिविमर्श का सङ्कलन कर शास्त्रीय उपस्थापना ख्यातिवाद का उद्देश्य है।



वादत्रयी

(कर्मवादः, प्रामाण्यवादः ख्यातिवादश्च)

□

लेखकः :

बच्चूलाल अवस्थी 'ज्ञान'

सम्पादकः :

सन्तोषः पण्ड्या

सहसम्पादकः :

हरिश्चन्द्रः पाणिग्राही

□

प्रकाशकः :

आचार्यकुल

कालिदास अकादेमी, उज्जैन

□

सर्वेऽधिकाराः लेखकाधीनाः

1996 ख्रीस्ताब्दः

□

अक्षरविन्यासः :

अक्षरालयः,

कालिदास अकादेमी, उज्जैन

मूल्य : रुपये 130.00

□

मुद्रकः :

ऋषि ऑफसेट,

गोलामण्डी, उज्जैन

दूरभाष : 560261



वैयाकरणमेरूणां चन्द्रशेखरशास्त्रिणाम् ।  
पादयोरर्पिता वादत्रयी भूयाद् विभूतये ॥





THE UNIVERSITY OF CHICAGO

LIBRARY OF THE UNIVERSITY OF CHICAGO

1911

## वाचारम्भणम्

वादत्रयी प्राकाश्यं नायत इति विदुषां प्रमोदावसरः। इयमेकत्र कर्मवादं, प्रामाण्यवादं ख्यातिवादञ्च समधिगत्य जिज्ञासूनां कृते प्रेषयिष्यतीति प्रमोदस्य हेतुः। बहून् ग्रन्थानधीत्य यदवाप्यते तदिह संक्षिप्य प्रकटितं विद्यते। बहुतरं जिज्ञासवस्तावत् येषां ग्रन्थानामिह सङ्केताः प्रतास्तेषु प्रवर्तेरन्, अपि च ससङ्केतानि बहून्युद्धरणानि प्रतानि येन ग्रन्थाः यथायथमध्येतुं शक्येरन्। प्रथमतः 1988 तमे ख्रीस्ताब्दे कालिदासाकादेम्या कल्पवल्ल्याः समारम्भः कृतः, तत्र कर्मवादविषयमधिकृत्य विदुषामाकारणं विहितम्। मया च स्वसङ्कलितस्य भारतीयदर्शन-बृहत्कोशस्य सामग्रीं यथायथं संस्कृतगिरोपनिबध्य कर्मानुसारिणः पुनर्जन्मनो व्याख्या विहिता। यथाशक्यं सर्वेषां दर्शनानां विचारास्तत्र सङ्कलिता विद्यन्ते। 1989 तमे ख्रीस्ताब्दे भारतीय-दर्शनेषु प्रामाण्यवादविषयमधिकृत्य कल्पवल्ली सम्पद्यत। तत्रापि मया पूर्ववदेव प्रामाण्यवादस्य वैविध्यं प्रतिदर्शन-मुपस्थापितम्। 1992 तमे ख्रीस्ताब्दे ख्यातिवादमधिकृत्य कल्पवल्ली समायोजिता।

इत्येवं त्रीन् वादानेकत्र सङ्कलय्य वादत्रयी प्राकाश्यते। अत्र पूर्व-निदेशकस्य श्रीनिवासरथस्य प्रेरकत्वं संशीतिलेशेनाप्यस्पृष्टञ्चकास्ति। तथापि वादत्रया मुद्रणकृते यन्त्रं स्थापयित्वा मङ्गलरूपेणास्या एव



प्रकाशनाय निर्देशं कुर्वतो वर्तमाननिदेशकस्य  
डॉ. प्रभातकुमारभट्टाचार्यस्य महिमानं नैव विस्मरण-  
मर्हति। त्रयाणामपि वादानां सङ्कलने टङ्कने सम्पादने  
च ये संलग्ना अभूवन् तेषु प्रो. अजिता त्रिवेदी  
डॉ. बालकृष्णः शर्मा, डॉ. जगदीशः शर्मा,  
श्री आर.जे. पानडीवालः, मुरलीमनोहरः पाठकः,  
सन्तोषः पण्ड्या इत्येतेषां सहयोगः समुपलब्धः।  
तत्कृते सर्वेऽपि ते सभाजनामर्हन्ति।

इदानीमस्य सम्पादनाय श्रीसन्तोषः पण्ड्या,  
श्रीहरिश्चन्द्रः पाणिग्राही च तत्परतया सम्पादनकार्य-  
निर्वाहमकुरुताम्। तत्कृते तौ शुभाशीर्वादानर्हतः। अस्य  
ग्रन्थस्य मुद्रणादिव्यवस्थां पुस्तकस्याकारं च श्रीरमेश  
आर्य इत्याख्य महोदयाः प्रादुः। श्रीसञ्जयश्च मुद्रणे  
तत्परतामदीदृशात्। तत्कृते तौ सभाज्येते।

देवप्रबोधनी एकादशी

विदुषां वशंवदः

2053 विक्रमाब्द

अवस्थी बच्चूलालः

## निदेशकीय वक्तव्य

कालिदास अकादेमी में ग्रन्थ-प्रकाशन का उपक्रम पूर्वनिदेशक डॉ. कमलेशदत्त त्रिपाठी द्वारा योजनाबद्ध रूप से लगभग डेढ़ दशक पूर्व प्रारम्भ किया गया था, जिसे आचार्य श्रीनिवास रथ ने अपने निदेशकत्व में निरन्तर बनाये रखा।

गत वर्ष कालिदास समारोह 1995 से लगभग डेढ़ मास पूर्व कालिदास अकादेमी का निदेशक पद ग्रहण करने के पश्चात् हमने एक प्रकाशन-योजना बनायी है जिसके अन्तर्गत एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'वादत्रयी' का प्रकाशन किया जा रहा है।

कालिदास अकादेमी द्वारा आचार्य श्रीनिवास रथ के कार्यकाल में आचार्यकुल के अधिष्ठाता पं. बच्चूलाल अवस्थी के मार्गदर्शन में 'कल्पवल्ली' कार्यक्रम के अन्तर्गत तीन संगोष्ठियाँ आयोजित की गयी थी- 'भारतीयदर्शनेषु कर्मवादः'/' भारतीयदर्शनेषु प्रामाण्यवादः'/' भारतीयदर्शनेषु ख्यातिवादः'- इन तीन संगोष्ठियों का पुस्तकाकार आकलन एक ही सम्पुट में वादत्रयी के नाम से किया जा रहा है।

वादत्रयी का प्रथम घटक 'कर्मवाद' है। उस विषय में सर्वप्रथम ज्ञातव्य है कि भारत कर्मभूमि है और भारतीय मनुष्य कर्मयोनि है। शेष भूभाग तथा जीवयोनियाँ भोगयोनियाँ कही गयी हैं। कर्म के अनुसार सभी भोगयोनियाँ प्राप्त होती हैं। मनुष्य भी अपने प्रारब्ध कर्म का भोग करते हुए पुनर्जन्म हेतु कर्म सञ्चित करता चलता है, जिससे उसके परलोक की वासना अर्जित होती है। इस विषय को शास्त्रीय सन्दर्भ के साथ विविध दार्शनिक प्रस्थानों में विचारणीय बनाया गया। 'प्रामाण्यवाद' नाम का द्वितीय खण्ड लौकिक ज्ञान की यथार्थता तथा अयथार्थता का विवेचन करता है। ज्ञान की यथार्थता स्वतः उसी



ज्ञान से निर्धारित हो जाती है अथवा ज्ञानान्तर-सापेक्ष है, यही शास्त्रीय विविधता में पल्लवित करना इस ग्रन्थभाग का लक्ष्य है। तृतीय खण्ड 'ख्यातिवाद' है। ख्याति सविकल्पक ज्ञान को कहते हैं। यह अयथार्थ तथा अयथार्थ दो रूपों में मान्य होता है, मुख्य रूप से अयथार्थज्ञान तथा अयथार्थ प्रत्यक्ष या अप्रमा का विवेचन इस शीर्षक से किया जाता है। यहाँ भी दार्शनिक प्रस्थानों में विविधता पायी जाती है। इस प्रकार तीन वादों को लेकर इस वादत्रयी का ग्रथन किया गया है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में हमें श्री सन्तोष पण्ड्या, श्री हरिश्चन्द्र पाणिग्राही तथा श्री आर.जे. पानडीवाल की सहायता उपलब्ध हुई है।

पुस्तक:- प्रकाशन की हमारी महत्वाकांक्षी योजना का क्रियान्वयन हो पा रहा है इसलिए कि डॉ. रमेश आर्य, श्री अशोक वक्त, डॉ. जगदीश शर्मा, श्री संजय चौहान और श्री विजय सोनी की सक्रिय रचनात्मकता हमें उपलब्ध है। कुलगुरु डॉ. शिवमंगलसिंह 'सुमन', आचार्य बच्चूलाल अवस्थी, आचार्य बाबूलाल शुक्ल, श्री भगवती शर्मा एवम् श्री प्रतापसिंह यादव का बहुमूल्य मार्गदर्शन इस उपक्रम का सम्बल है।

विजया दशमी, विक्रमाब्द 2053  
'माधवी' दशहरा मैदान, उज्जैन

प्रभातकुमार भट्टाचार्य  
निदेशक,  
कालिदास अकादेमी, उज्जैन

## विषयानुक्रमणी

### 1. भारतीयदर्शनेषु कर्मवादः

|                                     |    |
|-------------------------------------|----|
| 1. बौद्धदर्शने कर्मवादः             | 2  |
| 2. आर्हतानां कर्मवादः               | 12 |
| 3. काणादे गौतमीये च दर्शने कर्मवादः | 15 |
| 4. कापिलपातञ्जलदर्शनयोः कर्मवादः    | 18 |
| 5. जैमिनीये मीमांसादर्शने कर्मवादः  | 27 |
| 6. वेदान्तेषु कर्मवादः              | 33 |
| 7. प्रारब्धकर्मविषये विशेषः         | 38 |
| 8. निष्कर्षः                        | 44 |

### 2. भारतीयदर्शनेषु प्रामाण्यवादः

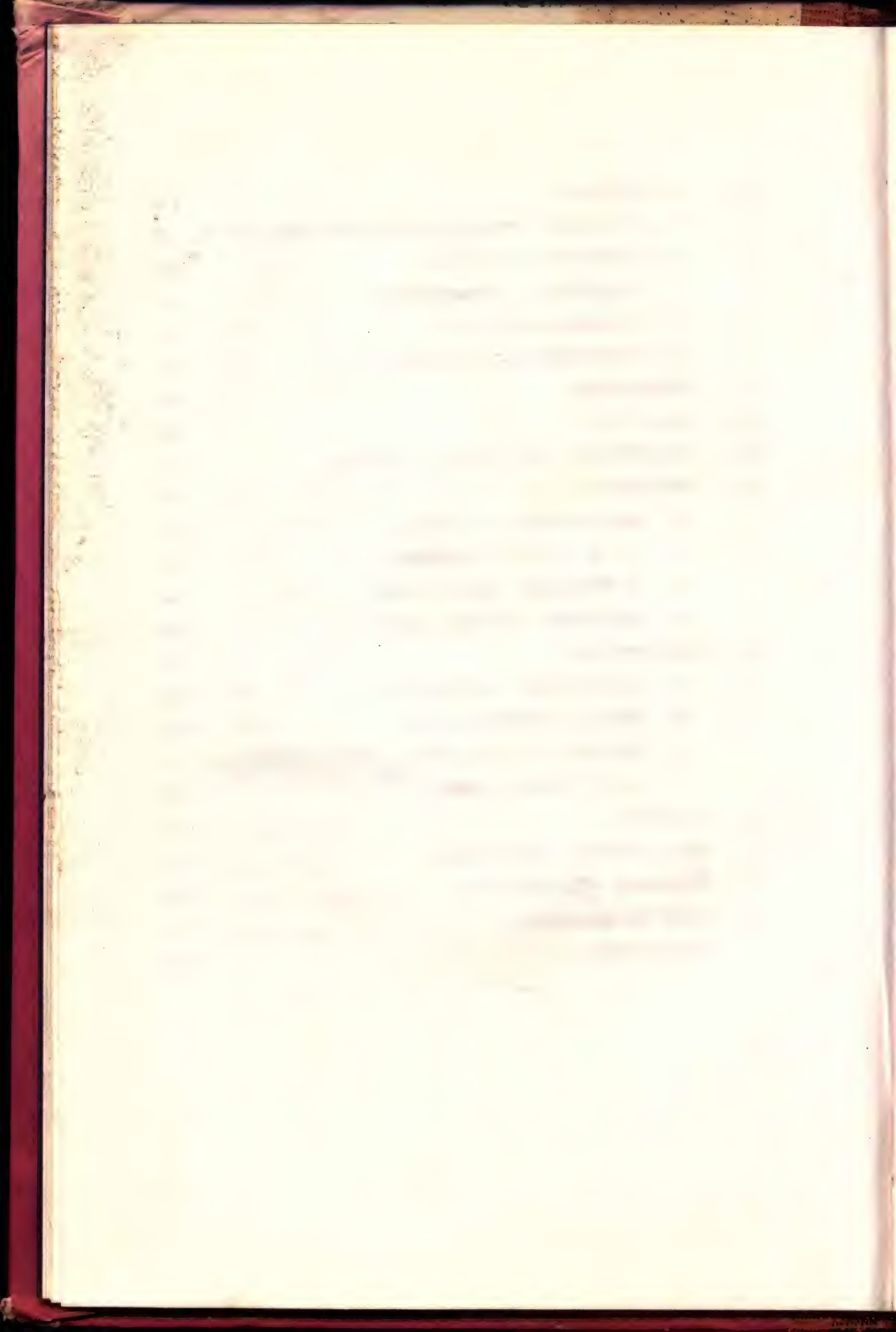
|  |    |
|--|----|
| 1. प्रस्तावना                                  | 47 |
| 2. प्रामाण्यवादस्य पूर्वपीठिका                 | 51 |
| 3. अथ स्वतस्त्ववादाः                           | 53 |
| 4. सांख्ययोगयोः स्वतस्त्वम्                    | 53 |
| 5. भाट्टमीमांसकानां प्रामाण्याप्रामाण्यविचितिः | 56 |
| 6. प्रभाकरमीमांसायां स्वतःप्रामाण्यम्          | 62 |
| 7. स्वतःप्रामाण्यविषया मण्डनमिश्रोपज्ञ-मीमांसा | 65 |
| 8. वेदान्तेषु स्वतस्त्ववादाः                   | 69 |
| क. अद्वैतवेदान्ते स्वतस्त्वम्                  | 69 |
| ख. विशिष्टाद्वैतवेदान्ते स्वतस्त्वम्           | 74 |
| ग. द्वैतवेदान्ते स्वतस्त्वम्                   | 76 |
| घ. दाक्षिणात्यशैवदर्शने स्वतस्त्वम्            | 78 |
| ङ. व्याकरणदर्शने स्वतस्त्वम्                   | 79 |



|     |                                    |     |
|-----|------------------------------------|-----|
| 9.  | स्वतस्त्व-परतस्त्ववादाः            | 85  |
|     | क. शुद्धाद्वैतवेदान्तिनः           | 85  |
|     | ख. आर्हताः                         | 86  |
|     | ग. सौगतानां स्वतस्त्व-परतस्त्वे    | 88  |
| 10. | परतस्त्ववादविमर्शः                 | 93  |
|     | क. वाचस्पतिमिश्राः                 | 96  |
|     | ख. उदयनाचार्यः                     | 99  |
|     | ग. भासर्वज्ञः                      | 101 |
|     | घ. जयन्तभट्टः                      | 104 |
| 11. | नव्यन्यायप्रवर्तको गङ्गेशोपाध्यायः | 106 |
|     | क. तावदुत्पत्तिविमर्शः             | 106 |
|     | ख. ज्ञप्तिविमर्शे पूर्वपक्षः       | 109 |
|     | ग. ज्ञप्तौ सिद्धान्तपक्षः          | 109 |
|     | घ. विश्वनाथपञ्चाननः                | 111 |
|     | ङ. अन्नभट्टः सञ्चिक्षेप            | 112 |
|     | च. केशवमिश्रः                      | 114 |
| 12. | उपसंहारः                           | 117 |
| 3.  | भारतीयदर्शनेषु ख्यातिवादः          |     |
| 1.  | ख्यातिवादविमर्शः                   | 121 |
| 2.  | ख्यातिवादभेदाः                     | 122 |
| 3.  | अनिवर्चनीय-ख्यातिवादः              | 126 |
| 4.  | अन्यख्यातिवादः                     | 136 |

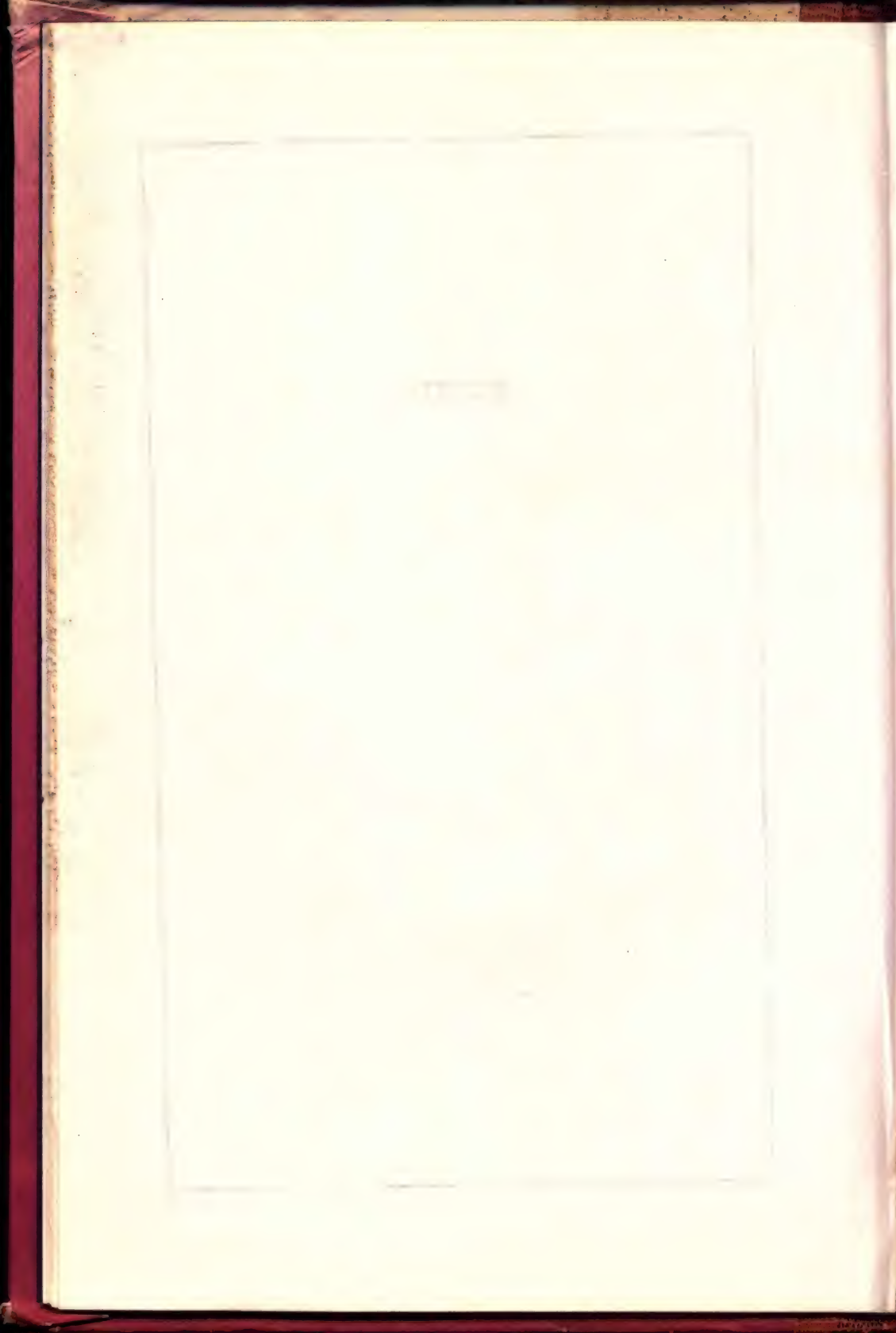
|     |   |     |
|-----|---|-----|
| 5.  | अन्यथाख्यातिवादः  | 137 |
|     | क. सौत्रान्तिकानां बाह्यार्थानुमेयवादसमर्थितोऽन्यथाख्यातिवादः | 138 |
|     | ख. नैयायिकानामन्यथाख्यातिवादः                                 | 139 |
|     | ग. भाट्टमीमांसकानामन्यथाख्यातिवादः                            | 141 |
|     | घ. माध्वानामन्यथाख्यातिवादः                                   | 143 |
|     | ङ. दाक्षिणात्यशैवानामन्यथाख्यातिवादः                          | 143 |
| 6.  | अभेदख्यातिवादः  | 145 |
| 7.  | असत्ख्यातिवादः  | 149 |
| 8.  | आत्मख्यातिवादापरनामा विज्ञानाकारख्यातिवादः                    | 153 |
| 9.  | यथार्थख्यातिवादः  | 157 |
|     | क. प्रभाकरमीमांसकानामख्यातिवादः                               | 157 |
|     | ख. विशिष्टाद्वैतवादिनां सत्ख्यातिवादः                         | 161 |
|     | ग. वैभाषिकबौद्धानां बाह्यार्थप्रत्यक्षवादः                    | 164 |
|     | घ. काश्मीरशैवानां यथार्थख्यातिवादः                            | 169 |
| 10. | विपरीतख्यातिवादः  | 170 |
|     | क. भाट्टमीमांसकानां विपरीतख्यातिवादः                          | 170 |
|     | ख. वैशेषिकाणां विपरीतख्यातिवादः                               | 171 |
|     | ग. पातञ्जलानां विपरीतख्यातिवादः (अन्यथाख्यातिवादः)            | 173 |
|     | घ. आर्हतानां विपरीतख्यातिवादः                                 | 175 |
| 11. | विवेकख्यातिः  | 176 |
| 12. | विवेकाख्यातिवादः (अख्यातिवादः)                                | 181 |
| 13. | वैयाकरणानां बुद्धिसत्ख्यातिवादः                               | 183 |
| 14. | सङ्कुचित-सत्ख्यातिवादः  | 192 |
| 15. | सदसत्ख्यातिवादः   | 198 |





कर्मवादः





## भारतीयदर्शनेषु कर्मवादः

कर्मवादस्य विचारणीयत्वे चार्वाकदर्शनं प्रथमग्रासे निपतति। अतो विचारकास्तमेव पूर्वपक्षीकृत्य तेषु तेषु शास्त्रेषु प्रवर्तन्ते। चार्वाका एव लौकायतिका इति निगद्यन्ते। ते यदृच्छावादिनश्चतुर्भूतवादिनश्च। पृथिव्यप्तेजोवायूनां यदृच्छासङ्घातेन शरीरञ्जायते। तत्र चैतन्यं तथोत्पद्यते यथा यवगुडादिषु मिलितेषु मद्यरूपेण परिणतेषु मदो जायते। तन्मते मरणमेव मुक्तिः। यादृच्छिकं शरीरं तन्मरणं च। आत्मनः सद्भावास्वीकारेण परलोकस्य पुनर्जन्मनो वा न तत्र काचिद् व्यवस्था। इमे प्रत्यक्षप्रमाणवादिनो नानुमानं न वा शब्दादिकं प्रमाणरूपेण स्वीकुर्वन्ति। पुनर्जन्मनि स्वीकृते तत्र तत्र दर्शनेषु कर्मफलभोगव्यवस्था विजृम्भते। तां च दुर्व्यवस्थां मन्वानाश्चार्वाकाः प्राहुः -

“यावज्जीवेत् सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्।

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥”

ननु यदि लौकिकं सुखमेव परमपुरुषार्थस्स्यात्तर्हि दुःखकण्टकाचिते जगत्पथे का नाम सुखस्य चर्चाऽपि स्यादिति चेन्न। प्राणिनः स्वकर्मणा मत्स्यशल्कवद् धान्यतुषवद् वा दुःखानि निरस्य मत्स्यवत् तण्डुलवद् वा सुखं भुञ्जते। अस्मिन्नेव जन्मनि कर्मफलानि समीहन्ते देहिनः। राजैव परमेश्वर इति सिद्धान्तेन राजतन्त्रमनुसृत्य यथायथं कर्माणि कृत्वा सुखानि भुज्येरन्निति कान्तालिङ्गनादिजन्यं सुखमेव परमः पुरुषार्थः, स्वेतरेच्छानधीनेच्छाविषयत्वात्। अमुमेव सिद्धान्तमूरीकृत्य कामशास्त्रमर्थशास्त्रं च प्रसरतः। यद्यपि कामशास्त्रे तत्र तत्र धर्मोल्लेखो



दृश्यते, तथापि काममपेक्ष्य धर्मार्थौ गुणीभूतावेवेति कामशास्त्राचार्या उद्घोषयन्ति।

### बौद्धदर्शने कर्मवादः

सौगतानां प्रस्थाने किलाष्टादश धर्मा एव तत्त्वानि। ते च रूपरसगन्धस्पर्शशब्दाः, चक्षुर्जिह्वाघ्राणकायश्रोत्राणि चक्षुर्विज्ञानजिह्वाविज्ञान-घ्राणविज्ञानकायविज्ञानश्रोत्रविज्ञानमनोविज्ञानानि, इमे धर्माः मनश्चेति। एतेषां प्रतीत्यसमुत्पादो भवति। चक्षू रूपं च प्रतीत्य चक्षुर्विज्ञानमुत्पद्यते। चक्षूरूपे क्षणिके। तयोर्निरोधे विज्ञानं जायत इति भावः। विज्ञानकाले न चक्षुस्तिष्ठति, न वा रूपम्। एतेषां निर्विकल्पकमेव प्रत्यक्षं जायते। यच्चान्ये सविकल्पकं प्रत्यक्षमामनन्ति, तत्तु ताथागतानां स्वार्थानुमानम्। धर्माणां सङ्घातो मिथ्या, प्रतीत्यसमुत्पन्नानां धर्माणां क्षणानन्तरमनवस्थानात् तथापि अनादिवासनया सङ्घातप्रतिभासो जायत इति मिथ्यैव जागती व्यवस्था। आत्मप्रतीतिश्च स्कन्धेषु प्रतीतिसमुत्पन्नेषु सत्कायदृष्टि-दोषादनादिवासनारूढाद् भवतीति संक्षेपः।

ननु अनात्मभूतेषु तेषु तेषु धर्मेषु न क्वचिदात्मा परिगणितः, तस्मिन्नसति कथं फलविपाको भवेत् कर्मणामिति चेन्न। रूपसंज्ञासंस्कारवेदनाविज्ञाननामकेषु पञ्चसूपादानस्कन्धेष्वेव मिथ्यासङ्घातभूतेषु आत्मत्वारोपेण पुनर्जन्मनः कर्मविपाकस्य च व्याख्यानोपपत्तेः। अनात्मनि चेयमात्मत्वबुद्धिः, साऽप्यनादिवासनाजन्या, तन्निरोधेन यन्नैरात्म्य-सिद्धिर्भवति, सैव सौगतानां निर्वाणम्। आत्मत्वबुद्धिरेव परं बन्धनम्---

“आत्मनि सति परसत्ता स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ।  
आभ्यां सम्प्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते ॥”

इति हि तेषां सिद्धान्तः। अनादिवासनया स्कन्धपञ्चकस्य सन्तान उत्पद्यमानः प्रवहति। अयमेव संसारः। उपादानस्कन्धेषु निरुद्धेषु निर्वाणमिति।

स्कन्धा एव कर्मणां प्रतीत्यसमुत्पादे हेतवः। त एव जायन्ते,

म्रियन्ते, पुनर्जायन्ते च। स्कन्धसङ्घात एव मिथ्याभूतो कर्मणां फलविपाकानां च धर्मी। कुशलाकुशलाव्याकृता भवन्ति विपाकाः। तथा चाहुः ---

“तेसु पन अनवज्जसुखविपाकलक्खणा कुसला,  
सावज्जदुक्खविपाकलक्खणा अकुसला, अविपाकलक्खणा  
अव्वाकता। (धम्मसंगणि, अट्ठकथा, 2/10)

अमुमर्थं विवृण्वानाः प्राहुः ---

सुखवेद्यं शुभं ध्यानादा तृतीयादतः परम्।

अदुःखासुखवेद्यन्तु दुःखवेद्यमिहाशुभम् ॥ (अधिको, 4/47)

अयमर्थः -- तृतीयध्यानपर्यन्तं शुभस्य कर्मणः सुखा वेदना भवति, अशुभस्य कर्मणश्च दुःखा वेदना, अव्याकृतस्य कर्मणश्च अदुःखाऽसुखा वेदना जायत इति सूत्रे तस्याविपाकलक्षणत्वं निर्दिष्टम्।

ननु पूर्वजन्मनि कृतानां कर्मणां वर्तमाने जन्मनि कथं वेदनाद्वयं जायते- सुखा चेति दुःखा चेति। सकृदेव सर्वकर्मणां भोगासम्भवादिति। उच्यते---

“अतीता एकदेसं विपक्कविपाका, एकदेसं अविपक्कविपाका  
ति विप्पकतविपाका वुच्चन्ति। येन हि कम्मेन पटिसन्धि  
निब्बत्तिता, भवङ्ग. पि, चुति पि, तस्या पटिसन्धितो याव  
चुति ताव तं विप्पकतविपाकं नाम होति।”

(पञ्चप्पकरण, अट्ठकथा, कथावत्थु, पृ. 63)

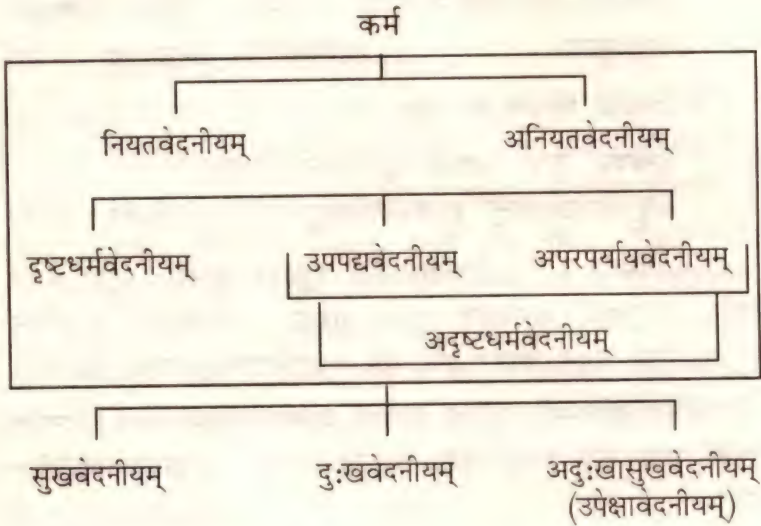
द्वयोरजन्मनोर्मध्ये प्रतिसन्धिर्भवति, अतीतजन्मनां कर्माणि वर्तमानजन्मनि न सर्वाणि विपच्यन्ते, किन्तु यानि विपच्यन्ते, त एव विपक्वविपाकानि कर्माणि निगद्यन्ते। अन्यानि चाविपक्वविपाकानि तिष्ठन्ति, प्रतीक्षन्ते च तृतीयादीनि जन्मानि। येषां च कर्मणां प्रतिसन्धावेव भोगः, तानि विप्रकृतविपाकान्युच्यन्ते। एवं सूत्रे त्रिधा विभागः कृतो विद्यते। वसुबन्धुस्तु ब्रूते स्म सुखवेदनीयादि त्रिविधं कर्म नियतं चानियतं च भवति। नियतं कर्म च त्रिविधं भवति - दृष्टधर्मवेदनीयम्, उपपद्यवेदनीयम्, अपरपर्यायवेदनीयञ्चेति। तथा चाह---



“नियतानियतं तच्च नियतं त्रिविधं पुनः।

दृष्टधर्मादिवेद्यत्वात् पञ्चधा कर्म केचन॥ (अधिको, 4/50)

अस्याः कारिकाया, वृक्षरूपेण व्याख्यानं सुगमम्। तथा हि---

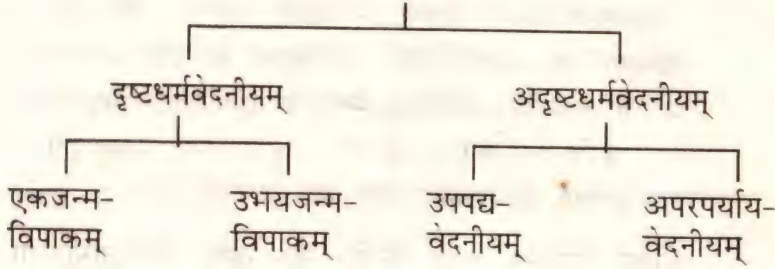


1. नावश्यवेदनीयमनियतम् 2. दृष्टधर्मवेदनीयं यत्र जन्मनि कृतं तत्रैव विपच्यते। 3. उपपद्यवेदनीयं द्वितीये जन्मनि। 4. अपरपर्यायवेदनीयं तस्मात् परत्र।

“जन्मान्तरेऽप्यस्ति दृष्टधर्मवेदनीयस्य कर्मणो विपाकः,  
आरम्भवशात्। (दृष्ट एव जन्मनि विपाकारम्भात् स्फुटार्था)।”  
(तत्रैव भाष्ये)

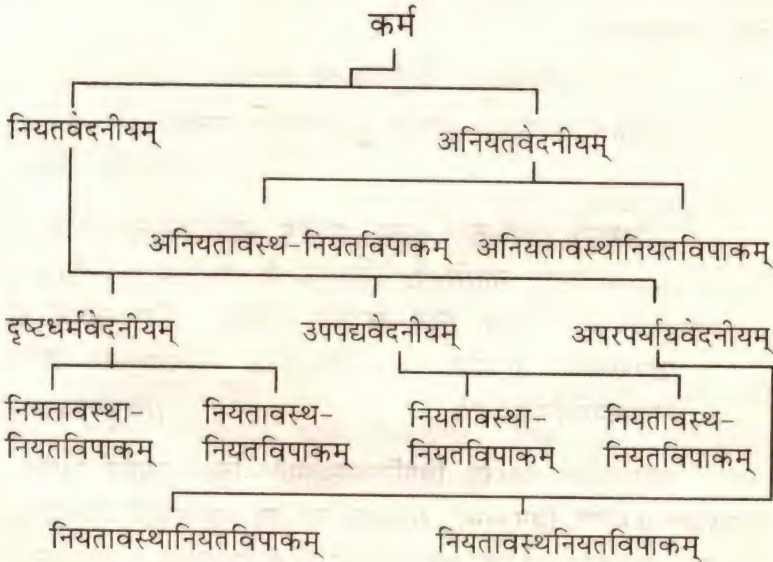
“अपरे पुनः पञ्चविधं कर्मेच्छन्ति, अनियतवेदनीयं द्विधा कृत्वा, विपाकेन नियतमनियतं च”  
(तत्रैव)

### नियतवेदनीयं कर्म



सौत्रान्तिकाः पुनरपि विपाकमधिकृत्याष्टविधतामाहुः।

(अभिको, 4/51, स्फुटार्था) तथा च निर्दिश्यते-



योगे यानि कर्माणि जातिविपाकानि, आयुर्विपाकानि, भोगविपाकानि च उच्यन्ते; तानीह विपाकफलानि, निःष्यन्दफलान्यधिपतिफलानि च कथ्यन्ते। अभिधर्मकोशभाष्ये (4/85) उक्तम् ---



“परस्य दुःखनाद् विपाकफलेन नरके दुःखितो भवति। मारणान्निःष्यन्दफलमल्पायुर्भवति। ओजोनाशनादधिपतिफलेनाल्पौजसो बाह्या ओषधयो भवन्ति। एवमन्येष्वपि योज्यम्। एवं कुशलानामपि कर्मपथानां फलत्रयं वेदितव्यम्। प्राणातिपातविरत्या आसेवितया भावितया बहुलीकृतया देवेषूपपद्यते। स चेदित्थान्त्वमागच्छति मनुष्याणां सभागतां दीर्घायुर्भवतीत्यकुशलविपर्ययेण सर्वं योज्यम्।”

कर्मणां विपाकेन वेदना जन्यते। तत्र खलु अष्टाङ्गमार्गिणां निर्वाणावस्थायां पुनर्जन्माभावेन न काचिद्वेदना जायते। इमे योगिनः सौगतमते आर्या इति निगद्यन्ते, तदितरे पृथग्जनाः। येषां स्कन्धपञ्चकरूपाणां संसरणं भवति, तत्र क्वचित् कायिकी वेदना जायते क्वचिच्च चैतसिकीति सौत्रान्तिका वदन्ति। (अभिको, 4/57) अमुमेवार्थं वैभाषिका अपि विशदयन्ति -

“कुशलस्याविचारस्य चैतसिक्येव वेदना।

विपाकः, कायिकी त्विष्टा दुःखवेद्यस्य कर्मणः।।”

(अभिदीप, 184)

“कस्मान्न कायिकी? तस्या अवश्यं सवितकविचारत्वात्।

..... कस्मान्न चैतसिकी? चैतसिकं हि दौर्मनस्यं न विपाकः।

..... न हि तत्र चित्तं कर्मणो विपाकः। किं तर्हि? यो

महाभूतानां प्रकोपः स विपाकः। तस्माज्जातं चित्तं

विपाकशब्देनोपचर्यते।”

(विभाषाप्रभा)

आत्मवादिषु दर्शनेषु विपरिणममानमपि चित्तं स्थायि भवति, अतस्तत्रैव कर्माणि विपच्यन्ते, संस्काररूपेण च भोगपर्यन्तं तिष्ठन्ति। सौगतानां क्षणभङ्गवादे तु तादृशवेदनावतश्चित्तस्योत्पत्तिरेव विपाकः। स च सन्तानं लभते, येन क्षणश उत्पादनाशशीलानां वेदनानामैक्यं प्रतिभासते। अमुमर्थं विवृण्वानाः कर्मभेदान् विपाकभेदांश्च सूत्रयाम्बभूवुः---

“चेतनाय संपयुतधम्मानं पन कम्मभावो कम्मचतुक्कंन दीपितो।

वुत्तं हेतं चत्तारिमानि भिक्खवे कम्मनि मया सयं अभिञ्जा

सच्छिक्त्वा पवेदितानि। कतमानि चत्तारि? अत्थि भिक्खवे  
कण्हं कम्मं कण्हविपाकं, अत्थि .... सुक्कं सुक्कविपाकं  
अत्थि .... कण्हसुक्कं कण्हसुक्कविपाकं अत्थि ....  
अकण्ह-असुक्कमविपाकं कम्मं कम्मक्खयाय संवत्तति।”

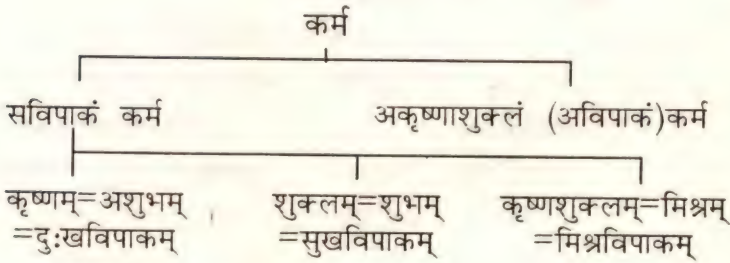
(अङ्गुत्तरनिकाय 2, पृ. 230-31)

“पुनश्चतुर्विधं कर्मोक्तम् - अस्ति कर्म कृष्णं कृष्णविपाकम्,  
अस्ति शुक्लं शुक्लविपाकम्, अस्ति कर्म कृष्णशुक्लं  
कृष्णशुक्लविपाकम्, अस्त्यकृष्णशुक्लमविपाकं कर्म कर्मक्षयाय  
संवर्तते।”

(विभाषाप्रभा, पृ. 184)

“सपाकमशुभं कृष्णं सपाकं रूपजं सितम्।  
शुभाशुभं द्विधा कामे निर्मले तत्प्रहाणकृत्॥”

(अभिदीप, 185)



अविपाकं कर्म तावदार्यसभागतायामेव निष्पद्यते। पातञ्जले  
योगे तदेव योगिनां कर्म निगद्यते। शेषास्त्रयः कर्मभेदाः  
पृथग्जनसभागतायामेव विपच्यन्ते। पातञ्जलानां प्रस्थाने चेदमयोगिनां  
कर्म। तथा हि- ताथागताः पठन्ति ---

“कण्हसुक्कविपाकं ति सुखदुःखविपाकं। मिसं कम्मं हि  
क्त्वा अकुसलेन तिरच्छान योनियं, मङ्ग.लहत्थिट्ठानादिसु  
उपपन्नो कुसले पवत्ते सुखं वेदियति, कुसलेन राजकुलेऽपि  
निव्वत्तो पवत्ते अकुसले दुक्खं वेदियति। ..... अकण्हं  
असुक्कं ति कम्मक्खयकरं चतुमग्गाणं।”

(अङ्गुत्तरनिकाय, अट्ठकथा 3, पृ. 212)



“कतमं च भिक्खवे कम्मं अकण्ह-असुककं  
अकण्ह-असुकविपाकं कम्मं कम्मवखायय संवत्तति? यदिदं  
सत्तसंबोद्धाङ्गं।” (वही, 2, पृ. 237)

“कृष्णशुक्लं कृष्णशुक्लविपाकं कर्म कतमत्? कामप्रतिसंयुक्तं  
कर्म। यत् कर्म वा आशयतः कृष्णं प्रयोगतो वा शुक्लम्,  
यत् कर्म वा प्रयोगतः कृष्णमाशयतः शुक्लम्। .....  
अकृष्णाशुक्लविपाकं व्यामिश्रं कर्म कतमत्?  
प्रयोगानन्तर्यमार्गेऽनास्रवं कर्म।” (अभिधर्मसमुच्चय, पृ. 59)

“कृष्णशुक्लादिभेदेन पुनः कर्म चतुर्विधम्।।

अशुभं कामरूपाप्तं शुभं चैव यथाक्रमम्।

कृष्णशुक्लोभयं कर्म तत्क्षयाय निरास्रवम्।।”

(अभिको, 4/59-60)

“कृष्णविपाकं चामनोज्ञविपाकत्वात्। ----

---- शुक्लविपाकं च मनोज्ञविपाकत्वात्। ----

- - - -कृष्णशुक्लविपाकं व्यवकीर्णविपाकत्वात्।”

(विभाषाप्रभा, 185)

(तुलनीय, योसू 4/7-8)

+ + + + +

सौत्रान्तिका वैभाषिकाश्च पालिग्रन्थाननुसृत्य कर्मविपाकं  
व्याचक्षिरे। यत्र कुत्रापि तेषां वैमत्यं दृश्यते। तथा हि-  
पञ्चस्कन्धरूपमात्मानं सत्कायदृष्टिसंवलितं स्वीकृत्य ते स्कन्धसंघातमेव  
भोक्तृत्वेन स्थापयन्ति। तत्रैव कर्माणि विपच्यन्ते, भोगश्च वेदनास्कन्धेन  
जायते, संस्काराः प्रभवन्ति, चक्षुर्विज्ञानादिकं भवति, रूपं संज्ञा च  
यथायानि संजायत इति। विज्ञानवादिनो योगाचारास्तु विज्ञानस्कन्धमेव  
मुख्यतया प्रतिष्ठाप्य तमेव विपाकं स्वीकुर्वन्ति। विपच्यन्ते यस्मिन्  
कर्माणि, स विपाक इति। स चासौ विपाक आलयविज्ञानसंज्ञया तत्र  
स्थाप्यते। तथा चोक्तम् ---

“तत्रालयाख्यं विज्ञानं विपाकः सर्वबीजकम्” (त्रिंशिका, २)

अयमर्थः - आलयविज्ञानमेव विपाकस्तत्र सर्वाणि संस्कारात्मकबीजरूपेण धारया सन्तानेन वा तिष्ठन्ति। इदं चालयविज्ञानं संस्कारसन्तानसहितं विज्ञानसन्तानरूपमिति न क्षणभङ्गवादहानिः। अन्ये बौद्धा आक्षिपन्ति आलयविज्ञानवादेन वेदान्तिनामात्मैव स्वीकृत इति। तत्तु विस्तरभिया नेह प्रतन्यते। को नाम विपाको यस्यालयविज्ञान-मित्यभिख्या? अमुं प्रश्नमुत्तरयन् कारिकाभाष्ये स्थिरमतिरेव माह---

“कुशलाकुशलकर्मवासनापरिपाकवशाद् यथापेक्षं  
फलाभिनिर्वृत्तिर्विपाकः।” इति।

अत्रेदमवधेयम् - कुशलान्यकुशलानि कुशलाकुशलानि चेति त्रिधा कर्माणि विभज्यन्ते। बीजरूपेण तेषां वासना आलयविज्ञाने तिष्ठन्ति। तेन च या फलोत्पत्तिः, सैव विपाकः। स च त्रिधा - सुखं, दुःखं व्यामिश्रं चेति। अस्मिन् दर्शन आशयरूपा वासना निःष्यन्दवासनानाम्नाऽभिधीयते। यया च पुनर्वासनया शरीरविशेषस्य सभागता निष्पद्यते, सा विपाकवासना। विपाकवासना त्वालयविज्ञानवृत्तिरित्युक्तम्। निःष्यन्दवासनायाश्च प्रवृत्तिविज्ञानानि जायन्ते-चक्षुर्विज्ञानम्, श्रोत्रविज्ञानम्, घ्राणविज्ञानम्, जिह्वाविज्ञानम्, कायविज्ञानम्, मनोविज्ञानं चेति। इमानि प्रवृत्तिविज्ञानानि कुशलाकुशलानि भवन्ति आलयविज्ञाने च वासना निधापयन्ति। किन्तु कुशलाकुशलाभ्यामव्याकृतं यन्मनः, तन्निःष्यन्दवासनामेव प्रसूते, न विपाकवासनाम्। तेनाव्याकृतानां कर्मणां विपाको न जायते। एवंभूतमालयविज्ञानमार्याणामेव, न पृथग्जनानाम्। आर्या हि चरमं जन्म लब्ध्वा अव्याकृतानि कर्माणि कुर्वन्ति। तथा चाह स्थिरमतिः ---

“विपाकं प्रति कुशलाकुशलत्वेनाव्याकरणादव्याकृतम्।।”

(स्थिरमतिः, त्रिंशिकाभाष्यम्, ४)

अस्मिन् प्रस्थाने द्वौ ग्राहौ स्वीक्रियेते। ग्राहकग्राहो ग्राह्यग्राहश्च। आद्यस्तावद्विपाको नामालयविज्ञानम्, द्वितीयश्च विषयरूपः। अतो वसुबन्धुराह ---



“कर्मणो वासना ग्राहद्वयवासनया सह।

क्षीणे पूर्वविपाकेऽन्यद् विपाकं जनयन्ति तत्॥

(त्रिंशिका, 12)

इत्थं चालयविज्ञाने द्विधा वासनास्तिष्ठन्ति। कर्मवासना ग्राहवासना च। ग्राहवासनाऽपि द्विधा विभज्यते - ग्राहकवासना, ग्राह्यवासना च। विपाकस्य चोत्तरोत्तरं जायमानतया विज्ञानधारा समाप्तिं नैति, यावन्निर्वाणमिति। पूर्वजन्मनि जातेन ग्राहद्वयेन प्रत्युत्पन्ने जन्मनि विपाकं लभते कर्म। अस्मिंश्च जन्मनि कर्मजन्यं ग्राहद्वयमनागतजन्मने प्रभवति। विज्ञानमेव तत्र तत्र तत्तद् रूपाणि गृह्णाति। क्वचित् कर्तृभोक्तृत्वेन, क्वचिच्च विषयरूपेण। विज्ञानमतिरिच्य नास्ति किञ्चिदिति तेषामभिमानः।

+ + + + +

सौत्रान्तिकवैभाषिकयोगाचारप्रस्थानेषु सस्वभावानि कर्माणि स्वीक्रियन्ते। विपाकादिस्तेषां स्वभावः। शून्यवादिनां माध्यमिकास्तत्र विप्रतिपद्यन्ते। तथा चाह नागार्जुनः ---

“तद् विपक्वविपाकं च पुनरेव विपक्षयति।

कर्म व्यवस्थितं यस्मात् तस्मात् स्वाभाविकं यदि॥”

(मध्यमकशास्त्र 17/25)

अयमर्थः - यदि कर्म सस्वभावम्, तर्हि स्कन्धेषु वा आलयविज्ञाने वा व्यवस्थितं स्यात्। तथा सति यस्य कर्मणो विपाको जातस्तस्यापि पुनर्विपाको भविता, कर्मणो विपाकस्वभावत्वात्। एवं च निर्वाणोपलब्धिः खपुष्पायेत, अतो कर्म निःस्वभावम्। ननु निःस्वभावस्य कर्मणो विपाकः कथङ्कारं जायेतेति चेन्न, अविप्रणाशस्य तत्त्वस्य सत्त्वात्। तथा चाह ---

“पत्रं यथा विप्रणाशस्तथर्णमिव कर्म च।

चतुर्विधो धातुतः स प्रकृत्याऽव्याकृतश्च सः॥”

(तत्रैव, 17/14)



इमां कारिकां विवृण्वानश्चन्द्रकीर्तिः प्राह -

“इह कुशलं कर्म कृतं सदुत्पादानन्तरमेव निरुध्यते। न च तस्मिन्निरुद्धं फलाभावप्रसङ्गः। यस्माद् यदैव तत् कर्मात्पद्यते तदैतस्य कर्मणोऽविप्रणाशो नाम विप्रयुक्तो धर्मः कर्तुः सन्ताने समुपजायत ऋणपत्रस्थानीयः। ..... यथा च ऋणपत्रं दातुर्धनाभ्यागमं कृत्वा निर्भुक्तं सत् पुनरपि विद्यमानं वा अविद्यमानं वा न धनाभ्यागमे समर्थम्, एवमविप्रणाशोऽपि दत्तविपाकः सन् विद्यमानो वा अविद्यमानो वा न शक्नोति निर्भुक्तपत्रवत् कर्तुः पुनरपि विपाकसम्बन्धं कर्तुम्। यश्चायमविप्रणाशोऽस्माभिरुक्तः, सूत्रान्तरोक्तः, चतुर्विधो धातुतः स कामरूपारूपावचरानामवभेदात्। प्रकृत्या अव्याकृतश्च सः। कुशलाकुशलत्वेनाव्याकरणादव्याकृत एवाविप्रणाशः। यद्यसावकुशलानां कर्मणामकुशलः स्यात् तदा कामं वीतरागाणां न स्यात्। यदि च कुशलानां कुशलः स्यात्, समुच्छिन्नकुशलमूलानां स न स्यात्। तस्मात् प्रकृत्याव्याकृत एवासौ।”

(प्रसन्नपदा)

आस्तां तावत्। ऋणपत्रं तु सन्तानेन तिष्ठेन्नाम, निःस्वभावं निरुद्धं कर्म कथं विपाकं प्रसूते? अयं खल्वविप्रणाशो मीमांसकानामपूर्ववत् तिष्ठतीति माध्यमिकराद्धान्तः, अव्याकृतश्चाविप्रणाशः कथं फलं प्रसूते? व्याकृतश्चेत्तर्हि क्षणेन ध्वंसेत, कर्मवत्। इति प्रश्नं मनसिकृत्य प्राह---

“प्रहाणतो न प्रहेयो भावनाहेय एव वा।

तस्मादविप्रणाशेन जायते कर्मणां फलम्॥

(मध्यमकशास्त्र 17/15)

सर्वेषां कर्मणां जन्मद्वयस्य प्रतिसन्धौ एकस्तावदविप्रणाशो जायते, स च निरोधोपायैर्न हीयते। समाधिभावनामात्रेण स हेयः। अत आर्याणां कर्मविपाको न जायते - ते जन्मान्तरं न लभन्ते। किन्त्वस्मिन् जन्मनि अविप्रणाशो न निरुध्यते, विपाकफलं दत्तैव नश्यतीति भावः। अनास्रवसान्नवभेदेन द्वैविध्यं लभतेऽयमविप्रणाशः।

तत्र अनास्रवस्य न किञ्चित् फलम्, सास्रवस्य च कर्मफलं भवत्येव।

उपसंहरन्नाह ---

“शून्यता च न चोच्छेदः संसारश्च न शाश्वतम्।  
कर्मणोऽविप्रणाशश्च धर्मो बुद्धेन देशितः॥ (तत्रैव, 17/20)

बुद्धोपदिष्टो धर्मस्त्रिधा भवति ---

1. धर्माणां शून्यतारूपा निःस्वभावता विद्यते, किन्तु नोच्छेदः।
2. संसारो भवति, किन्तु तत्र न किञ्चिच्छाश्वतम्।
3. क्षणध्वंसिनः कर्मणः खल्वविप्रणाशो भवतीति।

### आर्हतानां कर्मवादः

आर्हतदर्शने किल कर्मफलदातृत्वेन नेश्वरस्य स्थापना क्रियते। जीवानां कर्माण्यनुसृत्य पुद्गलाश्च जीवाश्च तथा परिणामं लभन्ते, यथा तत्तद्योनिषु जन्म भवति। अत्र जीवा न विभवो, न वा परमाणुपरिमाणाः, प्रत्युत मध्यमपरिमाणाः। तेन यस्यां योनौ यदा जायन्ते, तच्छरीरपरिमाणमेव जीवपरिमाणं भवतीति तेषां राद्धान्तः। ननु कस्याप्यनुग्राहकस्याभावे कथं पुद्गला जीवाश्च परिणामं गच्छन्तीति चेन्न। धर्माधर्मयोर्द्रव्ययोरनुग्राहकत्वव्यवस्थापनात्। मत्स्यानां जलवत्, धर्मद्रव्यं जीवान् पुद्गलांश्चानुगृह्णाति, तेन तेषु तथा तथा गतिर्भवति, यथा कर्माणि नयन्ति। अधर्मश्च पथिकानां छायावत् तेषां स्थितावनुग्राहकः। तेन किञ्चिदकुर्वाणोऽप्यधर्मः स्थितये जीवान् पुद्गलांश्चानुगृह्णाति। इमौ धर्माधर्मौ न पुण्यपापपर्यायौ प्रत्युत द्रव्यरूपौ व्यापकीभूतौ स्तः। एतयोर्गतिः स्थितिश्चानुग्रहो येन संसारिणां संसरणं भवति। अत्र वदन्ति ---

“विपाकोनुभावः। स यथानाम। ततश्च निर्जरा।”

(तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम्, 8/22-24)

“सर्वासां प्रकृतीनां (कर्मप्रकृतीनां) फलं विपाकोनुभावो भवति।  
विविधः पाको विपाकः। स तथा चान्यथा चेत्यर्थः। जीवः



कर्मविपाकमनुभवन् कर्मप्रत्ययमेव (कर्महेतुकमेव) अनाभोगवीर्यपूर्वकं  
कर्मसंक्रमं करोति।''  
(भाष्यम्)

अयं भावः - विपाक एवानुभावः। जन्मान्तरं पुनर्भव  
एवानुभावः। स च गतिभेदेन चतुर्धा भवति नारकविपाकः, तिर्यग्विपाकः,  
मानुषविपाकः, देवविपाकश्चेति। विपाकक्षये कर्मक्षये च पुनर्जन्मग्रहणाभावान्  
निर्जरा नाम तत्त्वमुदेति, येन कर्मक्षयो जायते। कर्मप्रकृतीनां फलमेव  
विपाकः, स एवानुभावः। परिणामरूपं फलमिह पाकः, विविधश्च  
पाको विपाक इति। पाके च विविधता तदा दृश्यते यदा क्वचित्  
कर्मानुसारेण फलं जायते, क्वचिच्चान्यथा। जीवो हि कदाचित्  
पूर्वकर्मविपाकमनुभवन् ऐहिक-कर्मणां शक्तिभिः पूर्वभोगसमाप्तिं विनैव  
कर्मन्तरं संक्रामतीति। येन अनियतविपाकानि कर्माणि भवन्ति।  
अर्धभुक्तान्यपि फलानि विहाय शुभकर्मन्तरे संक्रमणे पाको न जायते।  
तत्र शुभाशुभकर्मप्रकृतीनां शुभाशुभविपाका भवन्ति, शुभेनाशुभस्याशुभेन  
पुनः शुभस्यातिक्रमणमपि सम्भवति। समर्थेन हि कर्मणाऽतिक्रम्यते  
तत्कर्म यद् दुर्बलं भवतीति अनियतविपाकान्येव कर्माणीति सिद्धान्तितम्।  
जीवजातयः पुनः कर्मानुसारेणैव लभ्यन्ते इति तत्त्वार्थवार्तिके (8/21-23)  
सर्वार्थसिद्धौ च 'अनुभाव' इत्यस्य स्थाने 'अनुभव' इति पठ्यते।  
विवरणं च यथा ---

“विशिष्टो नानाविधो वा पाको विपाकः। पूर्वोक्तकषायती-  
व्रमन्दादिभावास्रवविशेषाद् विशिष्टः पाको विपाकः। अथवा  
द्रव्यक्षेत्रकालभवभावलक्षणनिमित्तभेदजनितवैश्वरूप्यो नानाविधः  
पाको विपाकः। असावनुभव इत्याख्यायते। शुभपरिणामानां  
प्रकर्षभावाच्छुभप्रकृतीनां प्रकृष्टानुभवः, अशुभप्रकृतीनां निकृष्टः।  
स एव प्रत्ययवशादुपात्तानुभवो द्विधा प्रवर्तते स्वमुखेन परमुखेन  
च। सर्वासां मूलप्रकृतीनां स्वमुखेनैवानुभवः। उत्तरप्रकृतीनां  
तुल्यजातीयानां परमुखेनापि भवति आयुर्दर्शनचारित्रमोहवर्जानाम्।  
न हि नारकायुर्मुखेन तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्वा विपच्यते। नापि  
दर्शनमोहश्चारित्रमोहमुखेन, चारित्रमोहो वा दर्शनमोहमुखेन।”

(सर्वार्थसिद्धिः, 8/21)



अत्रेदं तत्त्वम्-- 1. कषायाणां तीव्रतां मन्दतां वानुसृत्य तत्तदास्रवविशेषैः पाकविशेषो व्यवस्थाप्यते 2. द्रव्यक्षेत्रकालभवभावाश्च निमित्तानि भवन्ति, तेषां भेदेन पाकभेदो दृश्यते 3. यदा शुभपरिणामप्रकर्षादनुभवप्रकर्षं लभते, तदा खलु अशुभप्रकृतीनामनुभवां मन्दतां भजति 4. मुख्यकर्मप्रकृतयो गौणकर्मणां प्रकृतीः सहकृत्वरीरादाय कर्मणां वैविध्यं जनयन्ति। तत्रायुर्विपाको, दर्शनमोहविपाकश्चारित्र-मोहविपाकश्च योनिभेदेन भिन्नः सन् तदनुसारेण स्वातन्त्र्यं भजति, अन्ययोनिलब्धशरीरेण तेषां विपाकासम्भवात्।

ननु एकैनेव शरीरेण सुखानि दुःखानि चानुभूयमानानि दृश्यन्ते, कस्तत्र हेतुः? शुभकर्मणा लब्धेन शरीरेण कथं दुःखं भुज्येत, कथं तरां चाशुभकर्मजनितशरीरेण क्वचित् सुखान्यपि लभ्येरन्निति चेदत्राह अकलङ्कदेवः ---

“अशुभपरिणामानां प्रकर्षभावादशुभप्रकृतीनां प्रकृष्टोनुभवः,  
शुभप्रकृतीनां निकृष्टः। (तत्त्वार्थवार्तिकम् 8/21/1)

वैपरीत्येनापि व्याख्याते। शुभपरिणामानां प्रकर्षभावाच्छुभप्रकृतीनां प्रकृष्टोनुभवः, अशुभप्रकृतीनां च निकृष्ट इति। अत्रेदमपि बोध्यम्--- शुभाशुभकर्मप्रकृतीनां सहानवस्थानरूपो विरोधो नास्ति। तेन उभे अपि प्रकृती गौणप्रधानभावेन कर्मफलानि प्रसूयेते। सजातीयानि प्रधानीभूतानि कर्माणि एकस्मिन्नेव जन्मनि सहैव विपच्यन्ते। तदन्तराले गौणकर्मणामपि विपाको भवतीति निष्कर्षः।

ननु औदारिकशरीरापरनामके स्थूलशरीरे विनिपतिते कथं नाम जीवां देहान्तरं प्राप्तुं क्षमते, निराकारस्य तस्य देहान्तरप्रवेशानुपपत्तेरिति चेन्न, कर्मणशरीरान्तरस्य विद्यमानत्वात्। किमिदं कर्मणशरीरं नाम? अत्राहुः ---

“कर्मणो विकारः कर्मात्मकं कर्ममयमिति कर्मणम्।”  
(तत्त्वार्थभाष्यम्, 2/49)

“कर्मणां कार्यं कर्मणम्। सर्वेषां कर्मनिमित्तत्वेऽपि  
रूढिवशाद् विशिष्टविषये वृत्तिरवसेया।”

(सर्वार्थसिद्धिः, 2/36)

“कर्मणामिदं कर्मणां समूह इति वा कर्मणम्।”

(तत्त्वार्थवार्तिकम् 2/36/9)

“विस्रसोपचयेन व्यवस्थानात् क्लिन्नगुडरेणुश्लेषवत्।”

(तदेव, 2/36/13)

“अशरीरं विशरणाभावादिति चेन्न, उपचयापचयधर्मत्वात्।”

(तदेव- 2/36/16)

कर्मणशरीरं सूक्ष्मपुद्गलनिर्मितं भवति। इदं च सांख्यानां वेदान्तिनां चातिवाहिकशरीरवत् पातञ्जलानां कर्माशयवच्च यथाविस्रसं तत्र तत्रौदारिकशरीरेषु प्रवेशकर्म निर्वाह्य कर्मविपाकान् प्रति निमित्तीभवतीति संक्षेपः।

काणादे गौतमीये च दर्शने कर्मवादः

वैशेषिकन्यायौ किल सहकृत्वनी दर्शने। तत्त्वमीमांसा प्रायेण या वैशेषिकैर्गीता, सैव परवर्तिभिर्नैयायिकैर्जगृहे। अत्र प्रस्थाने जीवात्मानोपि परमात्मवद्विभवः। मनश्चाणुपरिमाणम्। तत्सन्निकर्षेणाऽत्मा कर्मफलानि भुङ्क्ते। आत्मनि च नव धर्मा भवन्ति - बुद्धिः, सुखम्, दुःखम्, इच्छा, द्वेषः, प्रयत्नः, धर्मः, अधर्मः, भावनाख्यसंस्कारश्चेति। इमे विशेषगुणा आत्मगुणाश्च कथ्यन्ते। तत्र सुखं दुःखं चेति द्वयी कर्मविपाकः। कर्म च धर्माधर्मौ जनयित्वा नश्यति। धर्माधर्मौ चादृष्टनाम्ना व्यवहियेते। अत्रेदं तत्त्वम्। आत्मनो व्यापकत्वेन यत्र कुत्रापि सुख-दुःखभोगसामग्री सन्तिष्ठते देशान्तरस्थस्य शरीरावच्छिन्नजीवस्य फलभोगाय देशान्तरं सुखजनकानि दुःखजनकानि वा वस्तूनि समुत्पद्यन्त इति दर्शनयोरनयोः सिद्धान्तः।

ईश्वरो दिक्कालौ धर्माधर्मरूपमदृष्टं च साधारणानि कारणानि भवन्ति सर्वेषां विपाकानाम्। नैतैर्विना कथमपि पुनर्जन्म वा सुखदुःखरूपो विपाको वा सम्भवति। कथं तर्हि शरीराच्छरीरान्तरं लभ्यत इति चेदुच्यते। मृत्योः कालः किलादृष्टेन निश्चित एव। तथा च



शरीरपातात्पूर्वमेव भाविनः खण्डशरीरस्य कर्मानुसारेण समुत्पत्तिर्भवति। अत एकं शरीरं विहाय शरीरान्तरे जीवः प्रेत्यभावं लभते। न्यायदर्शने धर्माधर्मौ प्रवृत्तिनाम्ना व्यवहियेते। अतोऽक्षपादीयं सूत्रं भाष्यं वार्तिकं च ---

“प्रवृत्तिदोषजनितोर्थः फलम्।” (न्यासू, 1/1/20)

“सुखदुःखसंवेदनं फलम्। सुखविपाकं कर्म दुःखविपाकं च। तत्पुनर्देहेन्द्रियविषयबुद्धिषु सतीषु भवतीति सह देहादिभिः फलमभिप्रेतम्।” (भाष्यम्)

“शरीरादीन् धर्माधर्मावारभ्य सुखदुःखोपभोगं कुरुत इति।” (वार्तिकम्)

एवं च धर्माधर्मरूपा प्रवृत्ती रागद्वेषादिदोषजनितं सुखदुःखसंवेदनरूपं फलं प्रसूते। संवेदनं च भोगः। तच्च जन्मना, आयुषा च सम्पद्यत इति जन्मायुर्भोगाः समवेतरूपेण विपाकनाम्ना व्यवहियन्ते।

“विपाकसंवेदनात् कर्माशयक्षये शरीरपातः प्रायणम्। कर्माशयान्तराच्च पुनर्जन्म।” (न्यायभाष्यम्)

अयमर्थः— पूर्वजन्मनः कर्माशयरूपया वासनया जनितान् जन्मायुर्भोगान् समाप्य प्रायणं मरणं वा लभते। वर्तमानजन्मार्जितकर्माशयेन च पुनर्जन्म भवति, तच्च प्रेत्यभावनाम्ना व्यवहरन्ति। तथा च सूत्रम्---

“पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः।” (न्यासू, 1/1/19)

“नास्येदं शरीरमपूर्वमनुत्तरं च। पूर्वशरीराणामादिर्नास्ति, उत्तरेषामपवर्गान्त इति प्रेत्यभावः ..... पुनरुत्पत्तिः पुनर्देहादिभिः सम्बन्धः। पुनरित्यभ्यासाभिधानम्। यत्र क्वचित् प्राणभृन्निकाये वर्तमानः पूर्वोपात्तान् देहादीञ्जहाति, तत्प्रैति। यत् तत्रान्यत्र वा देहादीनन्यानुपादत्ते तद् भवति। प्रेत्यभावो मृत्वा पुनर्जन्म। सोऽयं जन्ममरणप्रबन्धाभ्यासोऽनादिरपवर्गान्तः प्रेत्यभावो वेदितव्य इति।” (भाष्यम्)



“पूर्वोपात्तशरीरादिपरित्यागादन्यशरीराद्युपसंक्रान्तिः प्रेत्यभाव इति।  
पुनर्ग्रहणं संसारस्यानादित्वज्ञापनार्थम्।” (वार्तिकम्)

आस्तां तावत्। इयं पुनरुत्पत्तिरात्मनो भवति, शरीरस्य वा? आत्मा तावदजन्मा नित्यः। स कथं पुनर्जन्म लभेत? शरीरं चैकं न पुनः पुनर्जन्म गृहणीयात्, इति चेदुद्योतकरः प्राह मनस एव पुनर्जन्म भवति। सुखदुःखभोगाश्चात्मन इति आत्मानं प्रेत्यभावभागिनं मन्यन्ते न्यायविद इति। अस्मिन् विषये जयन्तभट्टः प्राह---

“आत्मनश्च स्थायित्वेन क्रियाभ्यावृत्ति- सम्भवात् तस्यैव पुनः पुनरुत्पत्तिं ब्रूमः। उत्पत्तिवन्मरणमपि। सोऽयमात्मन एव मृत्वा पुनर्जन्म प्रेत्यभाव इति। ---- मरणमात्मनो भोगायतनदेहेन्द्रियादिवियोग उच्यते। जन्म तु तत्सम्बन्धः।”  
(न्यायमञ्जरी, 2 पृ. 72)

अस्मिन् दर्शने स्थूलशरीरमिन्द्रियाणि च भौतिकान्येव सन्ति, अतो मनःसहितस्यात्मन एव प्रेत्यभावः सिद्धान्तितः। उभयोः शाश्वतत्वात्। परन्तु सुखदुःखादेरुपलब्धभावचेतनस्य मनसः साधनमात्रत्वेन प्रेत्यभाव आत्मन एवाभिमतः। अत्राहुः कणादपादाः ---

“इच्छाद्वेषपूर्विका धर्माधर्मप्रवृत्तिः। तत्संयोगो विभागः।”  
(वैसू, 6/2/14-15)

“ताभ्यां धर्माधर्माभ्यां संयोगो जन्म अपूर्वाभिः शरीरेन्द्रियवेदनाभिः सम्बन्धः संयोग इहोच्यते विभागस्तु शरीरमनोविभागो मरणलक्षणः। तथा चायं जन्ममरणप्रबन्धः संसारः प्रेत्यभावापरनामा धर्माधर्माभ्यामित्यर्थः।”  
(उपस्कार)

न्याये वैशेषिके च दर्शने आतिवाहिकशरीरस्य स्वीकाराभावेन जन्मद्वयान्तराले शरीरादिरहितस्य प्रेतस्य सम्मतिर्नास्तीति विशेषः। अत एव ते खण्डशरीरं कल्पयन्ति, यच्च धर्माधर्मवशेन मरणात्प्रागेव जनितं विद्यते। तथा च मरणकालादनन्तरमेव प्रेत्यभावो लभ्यते, येन सुखदुःखभोगा जन्यन्त इति दिक्।

कापिलपातञ्जलदर्शनयोः कर्मवादः

सर्वविदितं खलु सांख्यानां मते प्रधानस्य कर्तृत्वं पुरुषस्य च द्रष्टृत्वं भोक्तृत्वं वा। प्रकृतिसन्निधानेनैव पुरुषस्य भोक्तृत्वं सम्पद्यते। उभावपि विभू अनादी नित्यौ च। तथापि प्रकृतेरेकत्वेन पुरुषाणां च नानात्वेन यस्य पुरुषस्य कृते प्रकृतिभोगसाधनात्मकपरिणामान् गृह्णाति, तमेव पुरुषं बुद्ध्यादिरूपेण ते परिणामा अवच्छिन्दन्ति। अवच्छेदेनैव भोक्तृत्वं कल्पते। तादृशावच्छेदराहित्ये कैवल्यम्। निर्गुणेन चैतन्यस्वरूपेण पुरुषेण कथं भोगाः क्रियन्त इति चेत्, प्रकृतिपरिणामजन्य-बुद्ध्यादिसन्निधानेनेति जानीहि। तर्हि निर्लेपः पुरुषः कुतो बुद्ध्यादीनि गृह्णातीति चेत्, अनादिवासनैव तत्र हेतुः। भोग्यानां भोगाय या वासनान्तःकरणे निधीयते, सा तादृशभोगपरिणामानां हेतुः। तयैव वासनया अष्टादशतत्त्वात्मकं लिङ्गशरीरं जायते। भोक्तृत्वं चापि लिङ्गशरीरसहकारेणैव सम्पद्यते।

ननु इदमप्रथमतया वासना चेद् भवेत्, तदैव लिङ्गशरीरोत्पादः स्यात्। लिङ्गशरीरस्येदमप्रथमतां विना कथङ्कारं वासनानां सञ्चयो भवेदिति चेन्न, अत्र परस्पराश्रयत्वं गुण एव न दोषः, बीजवृक्षवत्। अत आह---

“न विना भावैर्लिङ्गं. न विना लिङ्गेन भावनिर्वृत्तिः।  
लिङ्गाख्यो भावाख्यस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः॥”

(सांका, 52)

अयं सर्गोऽनादिः। माठरवृत्तिकारो गोविषाणवत् कुमारीस्तनवद्वा तयोर्युगपदुत्पत्तिं ब्रूते। अन्ये तु बीजाङ्कुरवत् तयोरुत्पत्तिं मन्वाना व्याचक्षते। इदमेव लिङ्गशरीरं भावैरधिवासितं सद् भोगाय वासनानुसारेण तत्र तत्र जन्म गृह्णाति। विभोः पुरुषस्य तु जन्ममरणे नोपपद्यते इति। पाञ्चभौतिकं शरीरं यावन्न लभ्यते, तावल्लिङ्गशरीरं भोगशून्यं संसरतीत्याह ---

“पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्।

संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्।”(सांका, 40)



तथा च भोगाय लिङ्गशरीरं स्थूलशरीरे प्रविशति, प्रविश्य च भोगानश्नुते। ननु नेदं घटते, स्थूलशरीरमपेक्ष्य लिङ्गशरीरस्य सूक्ष्मशरीरस्य वा व्यापकत्वेन प्रवेशानुपपत्तिरिति चेन्न। आतिवाहिकशरीरस्यापि स्वीकृतत्वात्। तथा च सूत्रम्---

“न स्थूलमिति नियम आतिवाहिकस्यापि विद्यमानत्वात्।”  
(सांसू, 5/103)

विज्ञानभिक्षुर्व्याचष्टे- “आतिवाहिकस्याप्रत्यक्षतया सूक्ष्मस्य भौतिकस्य शरीरान्तरस्यापि सत्त्वात्।” इदं चातिवाहिकशरीरं भौतिकमिति तद्विदः प्राहुः। तथा चाह चरकः ---

“भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मै-  
र्मनोजवो देहमुपैति देहात्।  
कर्मात्मकत्वान्न तु तस्य दृश्यं  
दिव्यं विना दर्शनमस्ति रूपम्॥” (चरक, शारीर, 2/3)  
“तस्यात्मन आतिवाहिकशरीरयुक्तस्य दृश्यं रूपं नास्ति।”  
(चक्रपाणिदत्तः)

अयं भावः - पृथ्वी विहाय सूक्ष्मैर्भूतैर्घटितमिदमातिवाहिकं शरीरं कर्मवासनासहितं दिव्यदृष्ट्या दृश्यमपि पृथग्जनैर्दृश्यमेवेति। अग्रे चाह भगवांश्चरकः ---

“स सर्वगः सर्वशरीरभृच्च  
स विश्वकर्मा स च विश्वरूपः।  
स चेतनाधातुरतीन्द्रियश्च  
स नित्ययुक् सानुशयः स एकः॥” (चरक, 2/32)

स प्रतिपुरुषमेक एव देह इति कर्मवासनाभिर्युक्तस्तानि तानि रूपाणि गृह्णाति। सर्वविधस्थूलशरीरग्रहणे शक्तत्वात्। तथैव च व्याचष्टे विज्ञानभिक्षुः ---

“लोकाल्लोकान्तरं लिङ्गदेहमतिवाहयतीत्यातिवाहिकम्।---  
आतिवाहिकशरीरे च प्रमाणम् ---

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोन्तरात्मा

सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।”

--- न हि लिङ्गशरीरस्य सकलशरीरव्यापिनः स्वतोङ्गुष्ठमात्रत्वं सम्भवति। अत आधारास्याङ्गुष्ठमात्रत्वमर्थात् सिद्ध्यति।”

(विज्ञानभिक्षु, 5/103)

अपि च-

“आतिवाहिकं सूक्ष्मशरीरमिन्द्रियाणां धारणप्रापणसमर्थं नित्यं बाह्येनापायिना परिवेष्ट्यते परित्यज्यते च।”

(सांका, 39, युक्तिदीपिका)

किञ्च -

“पतञ्जलेस्तु सूक्ष्मशरीरं यत् सिद्धिकाले पूर्वमिन्द्रियाणि बीजदेशं नयति। तत्र तत्कृताशयवशात् द्युदेशं यातनास्थानं वा करणानि प्राप्य निवर्तते। तत्र चैवं युक्ताशयस्य कर्मवशादन्यदुत्पद्यते यदिन्द्रियाणि बीजदेशं नयति, तदपि निवर्तते, शरीरपाते चान्यदुत्पद्यते, एवमनेकानि शरीराणि।” (तत्रैव)

अपि च-

“विन्ध्यवासिनस्तु विभुत्वादिन्द्रियाणां बीजदेशे वृत्त्या जन्मा तत्यागो मरणम्। तस्मान्नास्ति सूक्ष्मशरीरम्।” (तत्रैव)

भवतु। पातञ्जलयोगदर्शने तन्मात्रकृतं सूक्ष्मशरीरमेव इन्द्रियाणि भोगियोनिषु प्रापयति। तच्च सूक्ष्मशरीरं स्थूलशरीरपातेन सहोत्पद्यते। स्थूलशरीरजन्मना सह नश्यति। पुनश्चोत्पद्यते। विन्ध्यवासी तु सूक्ष्मशरीरमातिवाहिकशरीरं वा न स्वीकरोति। सूत्रकारमतेन तु आतिवाहिकशरीरं विना देहान्तरयात्रा नोपपद्यत इति। सांख्यकारिकाकारस्तु लिङ्गशरीरमेव पुनर्जन्मने पर्याप्तं मनुते तथा चाह---

“चित्रं यथाश्रयमुते स्थाण्वादिभ्यो विना यथा छाया।  
तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम्।।”



पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन।  
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम्॥”

(सांका, 41-42)

“यथा कश्चिद्राजा प्रभुत्वयोगेन स्वराष्ट्रे यद् यदिच्छति तत्तत्  
करोति। एवं प्रधानमपि प्रभुत्वयोगेन मानुष्यं वा दैवं वा  
तैर्यग्योनं वा कुरुते। एवं सूक्ष्मशरीरं त्रयोदशविधेन करणेन  
संयुक्तं हस्तिन्या उदरं प्रविश्य हस्ती भवति, स्त्रीशरीरं  
प्रविश्य मनुष्यो भवति, तस्मान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम्॥”  
(माठरवृत्तिः)

शङ्कराचार्यस्तु प्रकारान्तरेण व्याचष्टे ---

“महदादिसूक्ष्मशरीरपर्यन्तं लिङ्गमुक्तम्। तन्नटवद्  
व्यवतिष्ठते॥” (जयमङ्गला)

वृत्तिकारः सूक्ष्मशरीरशब्देन तन्मात्रघटितं देहं गृह्णाति। जयमङ्ग-  
लाकारस्तु अष्टादशतत्त्वात्मकं लिङ्गशरीरमेव पुनर्भावाय कल्पयतीति  
विशेषः।

+ + + + +

“सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः॥” (योसू, 2/13)

अत्र क्लेशा एव मूलम्। ते च- “अविद्यास्मिता-  
रागद्वेषाभिनिवेशाः” तद्विपाक इति कर्माशयविपाकः। कोयं कर्माशयः?

“क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः?(योसू, 2/12)

“तत्र पुण्यापुण्यकर्माशयः कामलोभमोहक्रोधभावः। स  
दृष्टजन्मवेदनीयश्चादृष्टजन्मवेदनीयश्च। तत्र तीव्रसंवेगेन  
मन्त्रतपःसमाधिभिर्निर्वर्तित ईश्वरदेवतामहर्षिमहानुभावानामाराधनाद्  
वा यः परिनिष्पन्नः स सद्यः परिपच्यते पुण्यकर्माशय इति।  
तथा तीव्रक्लेशेन भीतव्याधितकृपणेषु वा महानुभावेषु

विश्वासोपगतेषु कृतः पुनः पुनरपकारः स चापि कर्माशयः  
सद्य एव परिपच्यते---- तत्र नारकाणां नास्ति दृष्टजन्मवेदनीयः  
कर्माशयः। क्षीणक्लेशानामपि नास्त्यदृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः  
इति। ” (भाष्यम्)

“आ कर्मफलप्रदानादन्तःकरणे शेत इति कर्माशयः  
शुक्लकृष्णात्मकः। ” (विवरणम्)

इत्थं च स्थायिवासनापर्याय एव कर्माशयशब्दः। स च  
पापपुण्यमिश्रात्मकस्त्रिधा। त्रिधा भवन्नप्यसौ क्वचिदिहैव जन्मनि  
वेदनीयः क्वच्चामुष्मिन् वेदनीयः। योगिनां तु न वेदनीय इति। अतो  
भाष्ये भगवान् व्यासः प्राह ---

“सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकाऽऽरम्भी भवति,  
नोच्छिन्नक्लेशमूलः। यथा तुषावनद्धाः शालितण्डुला  
अदग्धबीजभावाः प्ररोहसमर्था भवन्ति, नापनीत-तुषा दग्धबीजभावा  
वा तथा क्लेशावनद्धकर्माशयो विपाकप्ररोही। विपाकस्त्रिविधो  
जातिरायुर्भोग इति। ” (योगभाष्यम् 2/13)

अत्र जातिर्जन्म, आयुर्जीवनकालः, भोगश्च सुखदुःखरूपः।  
त्रिविधोपि विपाकः कर्मफलनिष्पत्तिरूप इति कर्माशय एव तत्र हेतुः।

भाष्यकृद्भिः कतिपये प्रश्ना उपस्थापिताः ---

1. किमेकैकं कर्म कारणीभवत्येकैकस्य जन्मनः?
2. किं वा एकमेव कर्मनेकानि जन्मानि प्रत्युत्पादयति?  
अथवा
3. अनेकैः कर्मभिः किमनेकजन्मनां निष्पत्तिः। आहो स्वित्
4. एकस्यैव जन्मनोनेकानि कर्माणि कारकाणीति?

तत्र प्रथमः पक्षो न सङ्गच्छते, अनादेः कालात्  
सञ्चितानामसंख्येयानां शेषाणामस्मिंश्च जन्मनि क्रियमाणानां कर्मणां  
फलपरिणामस्य नियतक्रमानुपपत्तेः। तथा च कर्मविपाके पुनर्जन्मनि च  
लोकविश्वासो हीयेत। द्वितीयोऽपि विकल्पोऽनुपपन्नः। अनेकेषु कर्मसु



मध्यादेकैककर्म चेदनेकेषां जन्मनां कारणं स्यात्तर्हि शिष्टानां कर्माशयानां विपाकस्य काल एव नायास्यतीति अनिष्टापत्तेः। तृतीयोऽपि विकल्पो न जाघटीति। अनेककर्मणामनेकजन्मकारणत्वे प्रथमविकल्पोपस्थापिताया अनुपपत्तेर्यथावत्त्वात्। न ह्यानेकानि जन्मानि युगपद् भवेयुः। क्रमस्वीकारे च शेषकर्मणां विपाको न सम्भवेत्। अपि च जन्मकर्मचक्रस्यावसानाभावः, कुतोऽपवर्गव्यवस्था स्यात्? अत एव समादधुर्भगवन्तो व्यासपादाः---

क. "जन्मप्रायणान्तरे कृतः पुण्यापुण्यकर्मशयप्रचयो विचित्रः प्रधानोपसर्जनभावेनावस्थितः प्रायणाभिव्यक्त एकप्रघट्टकेन मरणं प्रसाध्य सम्मूर्छित एकमेव जन्म करोति। तच्च जन्म तेनैव कर्मणा लब्धायुष्कं भवति। तस्मिन्नायुषि तेनैव कर्मणा भोगः सम्पद्यत इति।" (तत्रैव भाष्ये)

ख. "असौ कर्माशयो जन्मायुर्भोगहेतुत्वात् त्रिविपाकोभिधीयते इत्यत एकभविकः कर्माशय उक्त इति। दृष्टजन्मवेदनीयस्तु एकविपाकारम्भी भोगहेतुत्वाद्, द्विविपाकारम्भी वायुर्भोगहेतुत्वात् नन्दीश्वरवन्नहुषवद् वेति।" (तत्रैव भाष्ये)

"अदृष्टजन्मवेदनीयस्तु द्विविधो नियतविपाकश्चानियत-विपाकश्च। नियतविपाकस्तु प्रदर्शितः तस्माज्जन्मप्रायणान्तरे कृत इत्यादिना। यस्त्वनियतविपाकः स त्रिविधो वक्ष्यते।" (विवरणम्)

ग. "क्लेशकर्मविपाकानुभवनिर्वर्तिताभिस्तु वासनाभिरनादिकाल-सम्मूर्छितमिदं चित्तं विचित्रीकृतमिव सर्वतो मत्स्यजालं ग्रन्थिभिरिवाततमित्येता अनेकभवपूर्विका वासनाः। यस्त्वद्यं कर्माशय एष एवैकभविक उक्त इति। ये संस्काराः स्मृतिहेतवस्ता वासनाः। ताश्चानादिकालीना इति।" (तत्रैव भाष्ये)

"प्रधानोपसर्जनीभावेन त्रिविपाकारम्भी एष एवैकभविक उक्तः। न दृष्टजन्मवेदनीयो नाप्यनियतविपक्तिरदृष्टजन्मवेदनीयो नापि च वासनाः।" (विवरणम्)

घ. “यस्त्वसावेकभविकः कर्माशयः स नियतविपाकश्चा-  
नियतविपाकश्च। तत्रादृष्टजन्मवेदनीयस्य नियतविपाकस्यैवायं  
नियमो न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य। कस्मात्?  
यो हि अदृष्टजन्मवेदनीयः अनियतविपाकस्तस्य त्रयी  
गतिः। --- कृतस्याविपक्वस्य नाशः प्रधानकर्मण्यावापगमन-  
वा, नियतविपाकप्रधानकर्मणाभिभूतस्य वा चिरमव-  
स्थानमिति।” (तत्रैव भाष्ये।)

“आवापापत्तिः प्रधानकर्मफलातिरस्कारेण स्वयमपि मन्दमन्दं  
फलं मध्यमनुप्रविश्य प्रयच्छति।” (विवरणम्।)

1. “तत्र कृतस्याविपक्वस्य नाशो यथा शुक्लकर्मोदयादिहैव  
नाशः कृष्णस्य। यत्रेदमुक्तम् - द्वे द्वे ह वै कर्मणी  
वेदितव्ये पापकस्यैको राशिः पुण्यकृतोपहन्ति। तदिच्छस्य  
कर्माणि सुकृतानि कर्तुमिहैव ते शर्म कवयो वेदयन्ते।”  
(तत्रैव भाष्ये।)
2. “प्रधानकर्मण्यावापगमनम्। यत्रेदमुक्तम् - ‘स्यात् स्वल्पः  
सङ्करः सपरिहारः सप्रत्यवमर्शः कुशलस्य नापकर्षायालम्।  
कुशलं हि मे बहदन्यदस्ति। तत्रायमावापं गतः,  
स्वर्गप्यल्पमपकर्षं करिष्यति।’ इति।” (तत्रैव भाष्ये।)
3. “नियतविपाकप्रधानकर्मणाभिभूतस्य वा चिरमवस्थानम्।  
कथमिति? अदृष्टजन्मवेदनीयस्यैव नियतविपाकस्य कर्मणः  
समानं मरणमभिव्यक्तिकारणमुक्तम्, न तु अदृष्टजन्मवेदनीय-  
स्यानियतविपाकस्य।” (तत्रैव भाष्ये।)
- ङ. “यत् त्वदृष्टजन्मवेदनीयं कर्मानियतविपाकं तन्नश्येदावापं  
वा गच्छेदभिभूतं वा चिरमप्युपासीत यावत् समानं  
कर्माभिव्यञ्जकं निमित्तमस्य न विपाकाभिमुखं करोतीति।  
तद्विपाकस्यैव देशकालनिमित्तानवधारणादियं कर्मगतिश्चित्रा  
दुर्विज्ञाना चेति। न चोत्सर्गस्यापवादान्निवृत्तिरित्येकभविकः  
कर्माशयोऽनुज्ञायत इति।” (तत्रैव भाष्ये।)



“अनियतविपाकस्यापि एकजन्मारम्भित्वं न प्रतिषिद्धमित्यर्थः।”  
(विवरणम्)

+ + + + +

“ते ह्लादपरितापफलाः, पुण्यापुण्यहेतुत्वात्।” (योसू, 2/14)

ते नाम जात्यायुर्भोगरूपास्त्रिविधा विपाकाः पुण्यजन्यत्वे सुखरूपं पापजन्यत्वे च दुःखरूपं फलं प्रसूयन्ते। उदासीनत्वे च फलाभाव इत्याह ---

“कर्मशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।” (योसू, 4/7)

“चतुष्पदी खल्वियं कर्मजातिः। कृष्णा, शुक्लकृष्णा, शुक्ला, अशुक्लाकृष्णा चेति। तत्र कृष्णा दुरात्मनाम्। शुक्लकृष्णा बहिःसाधनसाध्या, तत्र परपीडानुग्रहद्वारेणैव कर्मशयप्रचयः। शुक्ला तपःस्वाध्यायध्यानवताम्, सा हि केवलं मनस्यायत्तत्वादबहिःसाधना, न परान् पीडयित्वा भवति। अशुक्लाकृष्णा संन्यासिनां क्षीणक्लेशानां चरमदेहानामिति।”  
(तत्रैव भाष्ये)

अत्र विवरणकारो श्रीमद्भगवद्गीतामुदाजहार ---

“अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।

भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्।।

(गीता, 18/12)

अयमत्र विशेषः ---

“ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वसिनानाम्।” (योसू, 4/8)

“तत इति त्रिविधात् कर्मणः। तद्विपाकानुगुणानामेवेति, यज्जातीयस्य कर्मणस्तादृशो विपाकस्तस्यानुगुणा या वासनाः कर्मविपाकमनुशरेते तासामेवाभिव्यक्तिः। न हि दैवं कर्म विपच्यमानं नारकतिर्यङ्मनुष्यवासनाभिव्यक्तिनिमित्तं भवति। किन्तु दैवानुगुणा

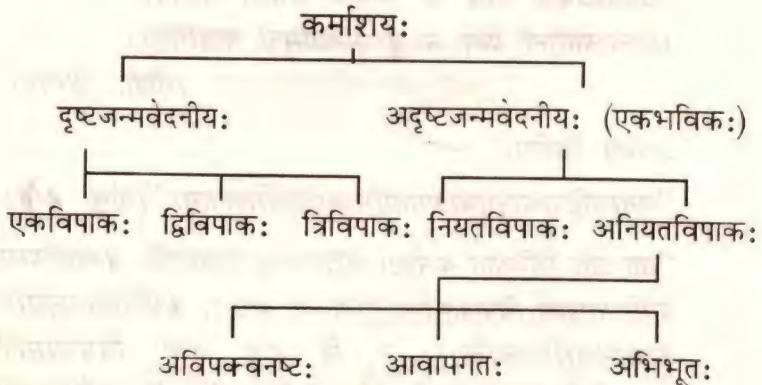
एवास्य वासना अभिव्यज्यन्ते। नारकतिर्यङ्मनुष्येषु चैव  
समानश्चर्चः। ” (तत्रैव भाष्ये)

ननु बहूनां जन्मनामन्ते कथं तत्तत्कर्मणां समवायः स्याद्.  
येनैकस्मिन् जन्मनि तेषां विपाको जायेत? इत्यत आह ---

“जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरंकरूप-  
त्वात्। ” (योसू. 4/9)

इदमत्र तात्पर्यम् - अनादिवासनाः खलु चित्ते सदा विचित्रतां  
वहन्त्यः सुप्ता इव तिष्ठन्ति, विपाकेन चोद्बोधकेनोद्बुद्धतां गच्छन्ति।  
ताश्च स्मृतिरूपं गृहणाना यथायथं दिव्यमानुषतिर्यङ्गनारकगतिषु व्यक्ततां  
लब्ध्वा भोगे सहकारितां भजन्तीति। इत्थं च विपाकगामी वासनासङ्घात  
एव कर्माशयः। स चैकस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरेषु वा तथार्जितां  
भवति यथामुष्मिन् जन्मायुर्भोगरूपेण विपच्यते। विविधजीवयानोनां  
भोगव्यवस्थाऽनादिवासनामाश्रयते। सा च वासना विपाकेन व्यज्यते।  
अभिव्यक्ता चेयं वासना कर्माशयात् प्रथक् तिष्ठन्ती फलानि प्रसूते।  
यथा पूर्वस्मिन् जन्मनि मनुष्योऽपरजन्मनि मार्जारत्वं प्राप्नोति चेत्तर्हि  
तस्य योनिविशेषलाभः कर्माशयस्य विपाकः। किन्तु मार्जारस्य मूषिकं  
प्रति द्वेषोनादिवासनयाभिव्यज्यते, अभिव्यक्तेश्च सहकारी विपाक इति।

अयमत्र संक्षेपः ---





## जैमिनीयमीमांसादर्शने कर्मवादः

जनाः पुनर्जन्मने कर्मणशरीरस्य, पातञ्जलाः कर्माशयस्य, सांख्या वेदान्तिनश्चातिवाहिकशरीरस्य स्थापनां विधाय व्याचक्षिरे। नैयायिका वैशेषिकाश्च न किञ्चन तादृशशरीरमभ्युपयन्ति। तेषां मतेनात्मैव मन एव वा धर्माधर्मसंस्काराननुसृत्य तांस्तान् देहान् प्रविश्य प्रेत्यभावं लभते। पूर्वमीमांसा-प्रस्थानेऽपि न तथाभूतस्य शरीरस्याभ्युपगमः क्रियते। तथा चाहुर्भट्टपादाः ---

“अन्तराभवदेहस्तु निषिद्धो विन्ध्यवासिना।

तदस्तित्वे प्रमाणं हि न किञ्चिदवगम्यते।।”

(श्लोवा, आत्मवादः 62)

“यदप्यातिवाहिकं नाम शरीरं पूर्वोत्तरदेहयोरन्तराले ज्ञानसन्तानसन्धारणार्थं कल्प्यते तदपि विन्ध्यवासिना निराकृतम्।”

(न्यायरत्नाकरः)

“सहसा जायते तच्च सहसैव विनश्यति।

सूक्ष्मरूपादियुक्तं चेत्युत्प्रेक्षामात्रमेव तत्।

सत्यपि ज्ञानसञ्चारस्तत्र स्यान्निष्प्रमाणकः।

तेन चान्यशरीरेषु पुनर्निक्षेपकल्पना।।

कललादिषु विज्ञानमस्तीत्येतच्च साहसम्।

असञ्जातेन्द्रियत्वाद्धि न तत्रार्थोऽवगम्यते।।

न चार्थाविगतेरन्यद् रूपं ज्ञानस्य युज्यते।

मूर्छादावपि तेनास्य सद्भावो नोपपद्यते।।

न चापि शक्तिरूपेण तदा धीरवतिष्ठते।

निराश्रयत्वाच्छक्तीनां स्थितिर्न ह्यवकल्प्यते।।

यदि भूतेन्द्रियाधारा ज्ञानशक्तिर्भवेत् ततः।

तच्चैतन्यं प्रसज्येत न च जन्मान्तरं भवेत्।।”

(श्लोवा, आत्मवादः 63-68)

ननु कथं तर्हि देहान्तरस्योत्पत्तिः कथं वा कर्मणां विपाकः।  
 कथं च पुनर्जन्मनो व्यवस्था, कर्मणां क्षणध्वंसित्वेन फलपर्यन्तं  
 तेषामनुधावनं न सम्भवतीति चेन्न। कर्मजन्यस्यापूर्वस्य फलपाकपर्यन्तं  
 जीवात्मन्यवस्थानात्। अपूर्वशब्दस्तु अदृष्टपर्यायः। इदमपूर्वं तावदेवात्मनि  
 तिष्ठति यावत् फलं नोत्पादयति। शरीरान्तरं भोगसाधनं दत्तैव  
 तन्नश्यतीति मीमांसकानामभिमानः। प्रागभावप्रतियोगित्वं कार्यस्यापूर्वत्वम्।  
 अत आहुर्भट्टपादाः ---

“कर्मभ्यः प्रागयोग्यस्य कर्मणः पुरुषस्य वा।  
 योग्यता शास्त्रगम्या वा परा साऽपूर्वमिष्यते॥”

(तन्त्रवार्तिकम् 2/1/5)

अमुमेवार्थं स्पष्टीकुर्वन् हेलाराजो व्याचक्षे---

“अपूर्वं धर्माधर्माख्यमदृष्टसंज्ञकं कंचिदेवंरूपं तं सामर्थ्यलक्षणं  
 भावमाहुः। अदृष्टवशाद्धि सर्वं भवति वा न वेत्यदृष्टमेव  
 सर्वकार्याणां निमित्तं बोद्धव्यम्॥”

(वाक्यपदीयटीका 3/7/34)

इदमत्रावधेयम्, धर्माधर्मनियुक्तानां धर्माधर्मरूपाणां वा विविधानां  
 कर्मणां बहून्यपूर्वाणि जायन्ते तेषां प्रधानापूर्वाणि जन्मने प्रभवन्ति,  
 गौणानि च यथायोगं तत्तत्प्रधानापूर्वेण सह विपच्यन्त इति राद्धान्तः।

+ + + + +

नित्यनैमित्तिककाम्यभेदेन कर्मणां त्रिविधता व्यवतिष्ठते। एतानि  
 विहितकर्माणि भवन्ति। तथा चाहुः ---

“नित्यान्यग्निहोत्रादीनि कर्माणि। तानि यदि निमित्ते विधीयन्तं  
 नित्यत्वमेषां व्याहन्येत। तत्र नित्यत्वचोदना यावज्जीविकाद्या  
 उपरुध्येरन्॥”

(मीमांसाभाष्यम् 1/1/1)

“काम्यनैमित्तिकाभ्यां हि तथा नित्यस्य बाधनम्॥”

(तन्त्रवार्तिकम्, 3/6/10)



“नित्ये कर्मणि भाष्यकारः फलमिच्छति।” (तदेव, 6/3/2)

“नित्ये प्रयोगे एकदेशेनाप्यधिक्रियते। काम्ये तु  
कृत्स्नामितिकर्तव्यतां यः शक्नोति कर्तुम्, सोऽधिक्रियते।”  
(टुप्टीका, 11/1/11)

“नित्याकरणे प्रत्यवायः प्रायश्चित्तं च।”  
(जैमिनीयन्यायमालाविस्तरः, 6/3/21)

‘नित्यं नित्यहितोपाये यावज्जीवमिति श्रुतेः।  
अङ्गान्यतो यथाशक्ति न वा सर्वाणि चान्यथा।।  
न तावदिष्टसाधनत्वेऽपि नित्यत्वहानिः। नित्येष्टस्यैव  
साध्यत्वकल्पनात्।”

(विधिविवेकः, पृ 220-21)

नियतकर्माणि तावन्नित्यनैमित्तिकभेदेन द्विधा भवन्ति। तत्र  
नित्यकर्मणो व्याख्या संक्षेपेण कृता। पुत्रजन्माद्यनुबन्धीन नैमित्तिककर्माणि  
समुद्दिश्य प्राहुः ---

क. “असञ्जातविरोधं हि नित्यं सर्वं विधीयते।  
नैमित्तिकं तु तद्व्याप्तविषयत्वाद्विरुध्यते।।  
किं च प्रयोगसामान्ये नित्यं सर्वं विधीयते।  
नैमित्तिकं विशेषे तु तस्मात्तद् बलवत्तरम्।।”  
(तन्त्रवार्तिकम्, 3/6/10)

‘नैमित्तिकस्य निरवकाशतया नित्यबाधकत्वम्।”  
(भाट्टतन्त्ररहस्यम्, 6/5/1)

ख. “आसन्नपुरुषार्थत्वात् विप्रकृष्टफलात्तथा।  
बलवच्छीघ्रकारित्वात् काम्यं नैमित्तिकादपि।।”  
(तन्त्रवार्तिकम्, 3/6/10)

ग. “जीवनादेर्निमित्तस्य साम्यात् कालो विशेषकः।  
निमित्तार्थस्तत्र जाते कर्मणोवश्यकार्यता।।”  
(विधिविवेकः, पृ. 245)

घ. “यत्र जाते कर्मणोवश्यकर्तव्यता, तन्निमित्तम्।--- निमित्तमेव तन्न स्याद् यस्मिन् सति न क्रियते। -- तस्मिन् सति तत्कुर्वतो यथाकथञ्चित् सदा समीहितमेनःक्षयं साधयत्येव।”  
(तदेव, पृ. 256-57)

ङ. “यथाशक्त्यङ्गसमवेतं सदा समभिलषितोपायं कर्म नैमित्तिकम्।”  
(न्यायकणिका, पृ. 257)

तृतीयं कर्म काम्यकर्मेति निगद्यते। तच्च त्रिषु कर्मसु बलवत्तममित्याहुः।

“स्वर्गादिफलाभिलाषेण काम्यानि कर्माण्यनुष्ठीयमानानि पुनर्जन्मने कारणं भवन्ति। नित्यनैमित्तिकानि त्वात्मज्ञानसहकारितया मोक्षाय कल्पन्ते।”  
(मनौ 2/2 कुल्लूकभट्टः)

1. “काम्यस्य कर्मणो यावदिच्छमभ्यासः सकृद्वा बहुकृत्वा वा।फलभूमार्थी बहुकृत्वः सन्तुष्टः सकृत्।”

2. “बलवच्छीघ्रकारित्वात् काम्यं नैमित्तिकादपि।”  
(तन्त्रवार्तिकम्, 3/6/10)

“काम्यं नित्यात् प्रबलं कामस्य शीघ्रं प्रवर्तकत्वात्।”  
(जैमिनीयन्यायमालाविस्तरः 12/2/13)

3. “काम्यं कर्मरब्धं मध्ये कामे निवृत्ते वा लब्धेऽपि वा समापनीयमेव, निन्दाप्रायश्चित्तयोः श्रवणात्।”

(तदेव, 6/2/3)

“काम्यं कर्म कृत्स्नाङ्गोपेतं कर्तुं यदा शक्नुयात्, तदैव कुर्यात्। नित्यं तु यथा शक्नुयात्, तथा कुर्यात्।”

(तदेव, 6/3/2)

+ + + + +

कर्माणि पुनस्त्रिधा विभज्यन्ते। क्रियमाणसञ्चितप्रारब्धभेदात्।

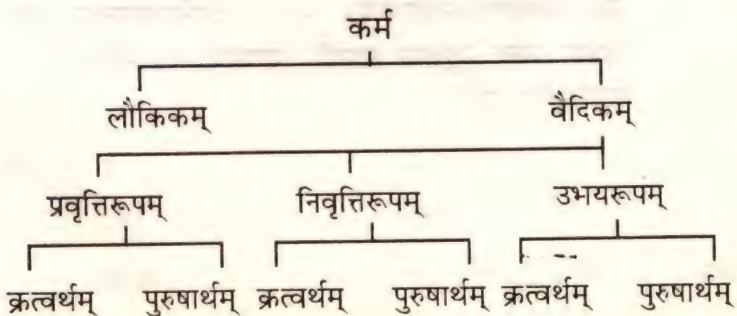
तत्र---



1. क्रियमाणता नाम सङ्कल्पादेः कारकप्रचलनात् प्रभृत्या समाप्तेः।
2. अनारब्धकर्मविपाकः कर्माशयः सञ्चितम्। तच्च ज्ञानाग्निना दह्यते।  
(वाचस्पत्यम्)  
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।  
(गीता, 4/37)
3. आरब्धकर्मविपाकश्च कर्माशयः प्रारब्धम्। तच्चोपभोगेनैव नश्यति।  
(वाचस्पत्यम्)

वाचस्पत्योद्धरणेषु यः कर्माशयशब्दः प्रयुक्तस्तत्स्थाने कर्मजन्यमपूर्वं तावज्ज्ञातव्यम्, येन मीमांसासिद्धान्तहानिर्न स्यात्। शुक्लादि-भेदास्तु योगदर्शनप्रसङ्गे प्रोक्ता एवेति नेह प्रतन्यते। बालमीमांसाप्रकाशे कर्मणां परिगणनं प्रकारान्तरेण कृतं विद्यते। तदिह मीमांसाकोशादुद्ध्रियते---

क. "कर्म द्विविधम् - लौकिकं वैदिकं च। वैदिकमपि त्रिविधम् - प्रवृत्तिरूपम्, निवृत्तिरूपम्, उभयरूपञ्च ----  
----- आद्यं कर्म द्विविधम्-क्रत्वर्थं पुरुषार्थं च। ----  
निवृत्तिरूपमपि कर्म द्विविधम् - क्रत्वर्थं पुरुषार्थं च।  
तत्राद्यं यथा नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीति। द्वितीयं यथा न हिंस्यात् सर्वा भूतानीति। प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मकतयोभयरूपं पर्युदासाख्यं यत्कर्म तदपि द्विविधम्- क्रत्वर्थं पुरुषार्थं च।  
तत्राद्यं यथा यजतिषु येयजामहं करोति नानुयाजेषु इति।  
-----द्वितीयं यथा नेक्षेतोद्यन्तमादित्यमिति। "



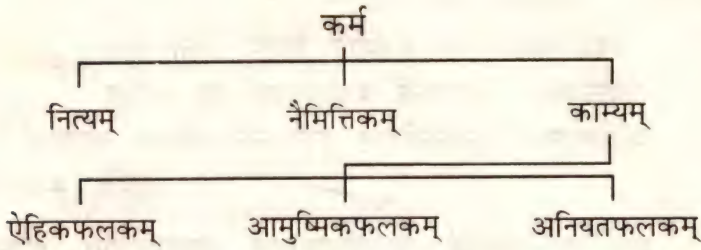
ख. "पुनरपि वैदिकं कर्म द्विविधम् --- गुणकर्म प्रधानकर्म च। तत्राद्यं यथा आधानम्। द्वितीयं यथाऽग्निहोत्रादि।"

ग. "पुनरपि वैदिकं कर्म चतुर्विधमुत्पत्तिप्राप्तिविकृतिसंस्कृत्यर्थत्वेन। तत्राद्यं यथा प्रणीताभिः संयौतीति। संयवनं पुरोडाशपिण्डोत्पत्त्यर्थम्। यागादि च स्वर्गाद्युत्पत्त्यर्थम्। द्वितीयं यथा पयो दोग्धीति ऊधस्यस्यैव हि दुग्धस्य प्राप्त्यर्थं दोहनम्। तृतीयं यथा ब्रीहीनवहन्तीति, वैतुष्यरूपविकारार्थत्वात्। चतुर्थं यथा ब्रीहीन् प्रोक्षतीति, अदृष्टरूपसंस्कारार्थत्वात्।"

घ. 'पुनरपि वैदिकं कर्म चतुर्विधम् - प्रकृतिर्विकृतिरुभयात्मकमनुभयात्मकं च। तत्राद्यं यथाऽग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादि। द्वितीयं यथा मासाग्निहोत्रादि। तृतीयं यथाऽग्नीषोमीयसवनीयपशवादि। ---- दर्शपूर्णमासयोः रग्नीषोमीयो विकृतिः, तस्य च सवनीयपशवः। ----- चतुर्थं यथा दर्विहोमा नारिष्ठादयः। ---- एवं गृहमेधीयाद्यपीति।"

ङ. "पुनरपि वैदिकं कर्म द्विविधम् - नैमित्तिकं काम्यं च। नैमित्तिकमपि द्विविधम्- नियतनिमित्तकमनियतनिमित्तकं च। ---- काम्यमपि कर्म त्रिविधम्, ऐहिकफलकमामुष्मिक-फलकमनियतफलकं च। तत्राद्यं यथा कारीर्या वृष्टिकामो यजेत, श्येनेनाभिचरन् यजेतेति। ---- आमुष्मिकफलकं यथा स्वर्गार्थाऽग्निहोत्रादि। ---- अनियतफलकं यथा चित्रया यजेत पशुकाम इत्यादि। पशवादिः फलमैहिकामुष्मिकत्वेनानियतम्।"





जैमिनीयं मीमांसादर्शनं खलु विशेषतो वेदवाक्यव्याख्यानपरम्। अत एव वाक्यशास्त्रमित्युदीर्यते। वेदवाक्यानि विधिनिषेधपराणि कथमर्थान् प्रसुवत इति विचारप्रसङ्गेन कर्मणां कर्मविपाकानां च तन्त्रवार्तिकादिषु भाष्ये चापि विवेचनं दृक्पथमवतरति। यत्र यावान्विस्तरस्तावानिह सङ्ग्रहीतुं न शक्यत इति संक्षेपेणैव कर्मवादोऽत्र कथमपि विविच्य निदर्शितः। वेदान्तप्रसङ्गेऽनुपदमेव यदिहावशिष्टं तदपि द्रक्ष्यते।

### वेदान्तेषु कर्मवादः

मीमांसादर्शने यत् परिशिष्यते तदपीह विनियोज्य विचारः प्रसरति। व्यवहारे भाट्टनय इति प्रायोवादः शङ्करमते प्रचरति तेन कर्मविषये पुनर्जन्मविषये च यदुक्तचरं तदविनाकृत्य यथाशक्ति विवेच्यते। तथा चोपनिषद् ---

“यथाकारी यथाचारी तथा भवति। साधुकारी साधुर्भवति।  
पापकारी पापो भवति। पुण्यः पुण्येन कर्मणा। पापः  
पापेन।” (बृहदारण्यकम् 4/4/5)

अत्र यः पुरुषो यथा करोति तथा लोके विशेषकं धर्मं लभत इत्येव तात्पर्यतः समायाति, नात्र फलव्यवस्था दृश्यते। अत एव श्रूयते---

“यत् कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते।” (तदेव)

अस्मिन्नपि मन्त्रे कथङ्कारं फलं लभ्यते कथं च पुनर्जन्मेति

स्पष्टतया नाक्तमित्यतः पुनराह श्रुतिः ---

“तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र  
निषक्तमस्य। प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत् किंचेह  
करोत्ययम्। तस्माल्लोकात् पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मणे।।”

(तदेव, 4/4/6)

इत्थं च कर्मचक्रं परिवर्तमानमास्ते यावदपवर्गम्। यस्मिन्  
कर्मण्यसौ सक्तो भवति, तेन कर्मणा लिङ्गशरीरं वासितं सत्  
प्रारब्धकर्मणोन्ते प्रेत्य वर्तमाने जन्मनि सञ्चितानि कर्माणि भोक्तुं तेनैव  
लिङ्गशरीरेण सह कर्म कर्तुं पुनरिहायाति---

“स यदा मनसा मनस्यति ----- कर्माणि कुर्वीयेत्यथ कुरुते।  
पुत्रांश्च पशूंच्छेयेत्यथेच्छते। इमं च लोकममुं चेच्छेयेत्यथेच्छते।”

(छान्दोग्य 7/3/1)

इत्थं च कर्मविपाक इच्छाधीनः। इच्छया मनस्याया जन्म।  
मनस्यया च वासनारूपया लोकविशेषप्राप्तिः, वासना चासक्तिं प्रसूते।  
तथा च लोकाल्लोकान्तरं भ्रमति। अथ श्रूयते ---

“अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोकः  
इति। सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा।  
कर्मणा पितृलोकः। विद्यया देवलोकः।”

(बृहदारण्यकम्, 1/5/16)

अत्रेदमवधेयं द्विविधानि कर्माणि भवन्ति नियतानि काम्यानि  
चेति। नियतानि च पुनर्नित्यनैमित्तिकभेदेन द्विविधानि। तत्र नियतानां  
कर्मणां त्यागो न वेदान्तानामभिमतः। काम्यानां त्याग एव गरीयान्।  
अत एव श्रीमद्भगवता गीतम् ---

“नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।

मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः।।” (गीता, 18/7)

“काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।

सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।।” (तत्रैव, 18/2)



कृतानां पुण्यपापकर्मणां प्रारब्धशरीराणां भोगादेव क्षयः।  
निष्कामकर्मणां करणेन नास्त्यपूर्वस्य सञ्चयः। अत एव मार्कण्डेयपुराणे  
प्रोक्तम् ---

“उपभोगेन पुण्यानामपुण्यानां च पार्थिव ।  
कर्तव्यमिति नित्यानामकामकरणात्तथा ॥  
असञ्चयादपूर्वस्य क्षयात् पूर्वार्जितस्य च ।  
कर्मणो बन्धं नाप्नोति शरीरं च पुनः पुनः ॥” (36/6-7)

विहितनिषिद्धभेदेन कर्माणि पुनर्द्विविधानि भवन्ति। तत्र  
सन्ध्यामुपासीतेति विहितं कर्म, न कलञ्जं भक्षयेदिति निषिद्धम्।

+ + + + +

आस्तां तावत्। कर्मणां फलविपाकाय देहाद् देहान्तरप्राप्तिः  
कथं स्यात्? आत्मनो विभुत्वे परमाणुरूपत्वे वा न देहान्तरप्राप्तिः  
सम्भवति। देहं परिव्याप्य तदवस्थानासम्भवात्। लोकान्तरगतेरपि  
दुरुपपादत्वात्। लिङ्गशरीरमपि न देहावच्छेदेन वर्तते, तस्य स्थूलशरीरमपेक्ष्य  
भूयोदेशव्यापित्वात्। अत एव सांख्या आतिवाहिकशरीरस्यावस्थानं  
स्वीकुर्वते। तथैव च श्रूयते ---

“अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो यः।  
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो हयवरोपि दृष्टः ॥”

(श्वेताश्वतरोपनिषद् 5/8)

अयमेवाङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो देहान्तरं लब्धुं संसरति। नैतच्छरीरं  
विना ब्रह्मापि जन्मने प्रभवेत्। अतः श्रूयते ---

“आतिवाहिक एकोऽस्ति देहोऽन्यस्त्वाधिभौतिकः।

सर्वेषां भूतजातीनाम् ----- ॥”

सर्वेषामेव देहौ द्वौ भूतानां कारणात्मनाम्।

अजस्य कारणाभावादेक एवातिवाहिकः ॥”

(योगवासिष्ठम् 3/3/ 7-8)

“पृथ्व्यादि-रहितो देहो यो विराडात्मको महान्।  
आतिवाहिक एवासौ चिन्मात्राच्छनभोमयः॥”

(तदेव, 3/14/4)

“आतिवाहिक एवास्ति न प्रबुद्धमतेः किल।  
आधिभौतिकदेहस्य वाचो वात्र कुतः कथम्॥”

(तदेव 3/3/32)

विष्णुधर्मोत्तरे विशेष उक्तः स च वाचस्पत्यकोशादुद्ध्रियते---

“तत्क्षणादेव गृह्णाति शरीरमतिवाहिकम् ।  
ऊर्ध्वं व्रजन्ति भूतानि त्रीण्यस्मात् तस्य विग्रहात् ॥  
आतिवाहिकसंज्ञोऽसौ देहो भवति भार्गव ।  
केवलं तन्मनुष्याणां नान्येषां प्राणिनां क्वचित् ॥  
कृते सपिण्डीकरणे नरः संवत्सरात् परम् ।  
प्रेतदेहं परित्यज्य भोगदेहं प्रपद्यते ॥”

एवं च मरणानन्तरं देहान्तरप्राप्तेः पूर्वमन्तराले काले खलु  
आतिवाहिकशरीरमेव पुनर्जन्मने भ्रमतीत्यस्ति व्यवस्था। मनुष्याणामेव  
कर्मफलानि भवन्ति। अन्यास्तु भोगयोनयः। अत एव मनुष्याणामेवास्य  
शरीरस्य व्यवस्था दृश्यते।

+ + + + +

ननु आतिवाहिकशरीरस्य कथं लोकान्तरगतिः?  
तेजोवाय्वाकाशरूपस्य तस्य जन्मलाभोऽपि कथं स्यात्? न स्वयं  
शरीरमेव शरीरान्तरं लभते, लिङ्गशरीरे निषक्ताः खलु वासना  
नातिवाहिकशरीरं प्रभवन्ति चालयितुं, द्वयोरप्यचेतनत्वात्। न चात्मा  
चालयति, तस्य निष्क्रियत्वात्। परमेश्वरोऽपि न, तस्य विभुत्वात्,  
प्रत्येकमातिवाहिकशरीरेण संयुज्य प्रेरणादायकत्वासम्भवात्। तर्हि  
दिक्कालावच्छेदेन कथं पार्थिवदेहलाभाय भवेदातिवाहिकशरीरस्य  
संसरणमिति चेदत्रोच्यते। आतिवाहिकदेवतानां तन्नियामकत्वात्। अत



एव ब्रह्मसूत्रे आतिवाहिकाधिकरणं विद्यते। तथा च सूत्रयाम्बभूवे---

“आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्।” (ब्रसू. 4/3/4)

“स एतान् ब्रह्म गमयति।” (छान्दोग्य, 4/15/5)

“इति सम्बन्धविशेषोतिवाह्यातिवाहकलक्षण उक्तः।-----  
सम्पिण्डितकरणत्वादेव च गन्तॄणां न तत्रोपभोगसम्भवः।-----  
अतोऽग्निस्वामिकं लोकं प्राप्तोऽग्निनातिवाह्यते, वायु-स्वामिकं  
प्राप्तो वायुनेति योजयितव्यम्।”

(तत्रैव शाङ्करभाष्यम् 4/3/5)

“विदुषामतिवाहे परमपुरुषेण नियुक्ता आतिवाहिका  
देवताविशेषाः।” (श्रीभाष्यम् 4/3/4)

“ततो विद्युत उपरि वैद्युतेनामानवेनैवातिवाहिकेन विदुषामाब्रह्मप्राप्ति  
गमनम्। ---- वरुणादयस्तु अनुग्राहका इति तेषामपि  
आतिवाहिकत्वेनान्वयो विद्यत एव।” (तदेव, 4/3/5)

रामानुजाचार्यैः श्रीभाष्ये (4/3/7) बृहदारण्यकोपनिषदो मन्त्र  
उद्धृतः ---

“पुरुषोऽमानवः, स एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति।”  
(बृहदारण्यक, 6/2/15)

मध्वाचार्यः खलु वायुरूपमेवातिवाहिकं स्थापयति। माध्वभाष्ये  
तथैव प्रतिपादितम्। तत्र (4/3/5) ब्रह्मतर्कस्योद्धरणं दत्त्वा प्रमाणीकृतं  
च---

“उत्क्रान्तस्तं शरीरात् स्वाद् गच्छत्यार्चिषमेव तु।  
ततो हि वायोः पुत्रश्च योसौ नाम्नातिवाहिकः॥  
ततोहः पूर्वपक्षं वा ह्युदक् संवत्सरं तथा।  
तडितं वरुणं चैव प्रयाजं सूर्यमेव च॥  
सोमं वैश्वानरं चेन्द्रं ध्रुवं देवीं दिवं तथा।  
ततो वायुं परं प्राप्य तेनैति पुरुषोत्तमम्॥”

(ब्रसू. माध्वभाष्यम्, 4/3/5)

वल्लभाचार्यस्तु उपासनानन्तरमपि फलभोगाय लोकेषु जीवगतिं स्वीचकार। अन्ततो ब्रह्मलोकप्राप्तिविषये निजगाद---

“यत्रातिवाहिकश्रुतिर्नास्ति तत्राप्यातिवाहिको भगवदीय एव ब्रह्म प्रापयतीति ज्ञेयम्। वस्तुतस्तु बहव एव तादृशाः सन्तीति ज्ञापनाय बहुवचनमत्रोक्तम्। तन्मध्ये कश्चनागत्यैक एव नयतीति ज्ञापनाय श्रुतावेकवचनम्।” (ब्रसू - अणुभाष्यम्, 4/3/5)

पुरुषोत्तमगोस्वामी प्रकाशटीकायां शब्दं व्युत्पादयन्नाह ---

“अतिवहनमतिक्रामयित्वा प्रापणमतिवाहः। भावे घञ्। तत्सम्बन्धी आतिवाहिकः। तद्बोधिका श्रुतिरातिवाहिकश्रुतिः।” (तत्रैव)

अत्रायं निष्कर्षः। शङ्करभगवत्पादो रामानुजश्चेत्याचार्यौ नैका आतिवाहिकदेवताः स्वीचक्रतुः। ताश्च विविधलोकानामभिमानिन्यो देवताः। ता एव स्वस्वलोकेषु पुरुषान् देहान्तरेषु ब्रह्मलोके वातिवाहयन्ति। वल्लभाचार्याणां मते तु नातिवाहिका लोकाधिष्ठातारः किन्तु परमेश्वरस्यैवामानवाः पुरुषा बहुसंख्या आतिवाहिकरूपेण नियुक्ता भवन्ति। तेष्वन्यतमो मुक्तात्मानं ब्रह्मलोकं नयतीति। विवेचनात् प्रतीयते ब्रह्मलोकप्राप्तेः पूर्वं मुक्तपुरुषस्यपि आतिवाहिकं शरीरं भवत्येव। तदतिवाहयिता पुरुष एवातिवाहिक इति। इयं च व्याख्या ब्रह्मलोकं प्रति गन्तॄणां व्यवस्थां दत्ते। किन्तु लोकान्तरं देहान्तरं वा प्रापयितुमपि ता देवताः स्वीकार्या एव भवन्ति, विविधलोकेषु जीवगतये तत्स्वीकारस्यावश्यकत्वात्। आतिवाहिकदेवतां विना को नामातिवाहिकं शरीरं नयेत्? यत्र तत्र गमने सत्यव्यवस्था जायेत।

### प्रारब्धकर्मविषये विशेषः

प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षय इति सिद्धान्तः। अनेकजन्मार्जितानि सञ्चितकर्माणि तु कदाचित् क्षीयेरन्। ईश्वरार्पणबुद्ध्या कृतानि कर्माणि न फलानि प्रसुवत इति हि तत्र तत्र सिद्धान्तितम्। यैः कर्मभिः शरीरं भोगाश्च जनितं तानि कर्माणि प्रारब्धकर्माण्यभिधीयन्ते। तेषां तच्छरीरेणैव



भोगेन परिसमाप्तिर्भवति। पुनर्जन्मने च पुनरुद्बुद्धानि प्रधानीभूतानि कर्माणि भोगायतनं निर्मिते। तान्येव पुनः प्रारब्धकर्मतां भजन्ति। तथा च श्रूयते ---

“कर्मैति च क्रियमाणेन्द्रियैः कर्माण्यहं करोमीत्यध्यात्मनिष्ठतया कृतं कर्मैव कर्म। अकर्मैति च कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यहङ्कारतया बन्धरूपं जन्मादिकारणं नित्यनैमित्तिकयागव्रततपोदानादिषु फलानभिसन्धानं यत् तदकर्म।”

(निरालम्बोपनिषत् 11/12)

इदमत्राकृतम्। तत्कर्मैवाकर्म कथ्यते यत् फलानुसन्धानरहितेन कर्त्रा कृतं स्यात्। फलभोगविपाकाभावेन तस्याकर्मता। अहन्तया कृतस्य कर्मणः कर्ता कर्तृत्वाभिमानवान् वा नूनं फलभोक्तेति सिद्धान्तः। फलविपाकारम्भाणि कर्माणि व्यापारारम्भात् प्रभृति क्रियापरिसमाप्तिपर्यन्तं क्रियमाणानि निगद्यन्ते। तान्येव सञ्चितानि भवन्ति। एतज्जन्मार्जितानि पूर्वजन्मार्जितानि च सञ्चितेभ्यो विचित्य यानि कर्माणि कर्माशयरूपेण, आतिवाहिकशरीररूपेण, सूक्ष्मस्कन्धसङ्घातरूपेण, कर्मणशरीररूपेण, तन्मात्रात्मकसूक्ष्मशरीररूपेण वा सङ्घीभूय शरीरमारभन्ते भोगपर्यन्तं च तच्छरीरं धारयन्ति, तानि प्रारब्धकर्माणि। तेषामवश्यम्भावी भोगः। तथा च श्रुतिः ---

क. “सुखाद्यनुभवो यावत् तावत् प्रारब्धमिष्यते।

फलोदयः क्रियापूर्वो निष्क्रियो न हि कुत्रचित् ॥

अहं ब्रह्मेति विज्ञानात् कल्पकोटिशतार्जितम् ।

सञ्चितं विलयं याति प्रबोधात् स्वप्नकर्मवत् ॥”

(अध्यात्मोपनिषत्, 49-50)

विवेकख्यात्या सञ्चितान्येव कर्माणि नश्यन्ति, शरीरप्रारम्भकाणां प्रारब्धकर्मणां तु भोगादेव क्षय इति भावः। तदेवाह ---

ख. “ज्ञानोदयात् पुरारब्धं कर्म ज्ञानान्न नश्यति।

अदत्त्वा स्वफलं लक्ष्यमुद्दिश्योत्सृष्टबाणवत् ॥”

(तदेव, 53)

ग. “अजरोस्म्यमरोस्मीति य आत्मानं प्रपद्यते।  
तदात्मना तिष्ठतोस्य कुतः प्रारब्धकल्पना॥  
प्रारब्धं सिद्ध्यति तदा यदा देहात्मना स्थितिः।  
देहात्मभावो नैवेष्टः प्रारब्धं त्यजतामतः॥  
प्रारब्धकल्पनाप्यस्य देहस्य ध्रान्तिरेव हि॥”

(तदेव, 55-57)

अत्रापि नास्ति भोगाद् विना क्षयः, किन्तु आत्मपरायणो जनः  
सर्वथा त्यक्तदेहात्मभावो प्रारब्धकर्माणि प्रति ताटस्थ्यां भजमानस्तिष्ठतीति  
विपाकोपि कर्मणां निर्विपाक इव जायेतेति भावः। कुत इत्याह ---

घ. “अध्यस्तस्य कुतः सत्त्वमसत्यस्य कुतो जनिः।  
अजातस्य कुतो नाशः प्रारब्धमसतः कुतः॥”

(तदेव, 58)

इत्थं च तत्त्वतः शरीरादिकं जन्ममरणादिकं च मिथ्येति  
प्रारब्धमपि मिथ्या। व्यवहारदृशैव प्रारब्धं व्यवस्थापयाम्बभूवुर्वेदान्तविदः।  
तच्च मूढान् प्रतिबोधयितुमेव न तु प्रारब्धं तत्त्वतः स्थापयितुम्। अत  
एव श्रूयते---

ङ. “ज्ञानेनाज्ञानकार्यस्य समूलस्य लयो यदि ।  
तिष्ठत्ययं कथं देह इति शङ्कावतो जडान् ॥  
समाधातुं बाह्यदृष्ट्या प्रारब्धं वदति श्रुतिः ।  
न तु देहादिसत्यत्वबोधनाय विपश्चिताम् ॥”

(तदेव, 59-60)

अत्र विपश्चितस्तु त एव ये विवेकख्यातिं लब्ध्वा अहं  
ब्रह्मास्मीति अपरोक्षज्ञानेन परमात्मनि लयं भजन्ते। तदवस्थायां देहगतस्य  
प्रारब्धविपाकस्य मिथ्यात्वावबोधेन निर्लेपता जायत इत्येव प्रारब्धकर्मणां  
जीवच्छरीरस्यापि नाशो निगद्यते, न तु प्रारब्धकर्मारब्ध-  
शरीरादेरकालमृत्युर्घोष्यत इति बोध्यम्। अत एव शाक्ता अप्यागमा  
आहुः---



1. “यद्यप्यनुल्लङ्घनीये प्रारब्धनियती खलु ।  
तथाप्यपौरुषाणां तत् प्रारब्धमनपोहनम् ।।  
अत एव प्राणायामैः प्रारब्धं परिजीयते ।  
न तान् दृष्टेषु दुःखेषु प्रारब्धं योजयत्यलम् ।।  
प्रारब्धा हि निगीर्णास्ते ये पौरुषपराङ्मुखाः ।”  
(त्रिपुरारहस्यम्, ज्ञानखण्डम्, 7/62-64)
2. “केवलज्ञानिनो दृष्टदुःखभाजो भवन्ति हि ।  
प्रारब्धतन्त्रास्ते प्रोक्ता देहान्ते मुक्तिभागिनः ।।  
ये नष्टमानसाः प्रोक्तास्तैः प्रारब्धं पराकृतम् ।  
मनोभूमौ तु प्रारब्धबीजं भोगाङ्कुरं भवेत् ।।  
मनोभूमेरभावेन तत् प्रारब्धं तु कालतः ।  
कुसूलस्थं बीजमिव विनश्येन्नष्टशक्तिकम् ।।”  
(तदेव 19/94-96)
3. “यथा च मदिरामतो वदन् कुर्वन् न वेद वै ।  
एवमेष महायोगी लोकयात्राबहिर्गतः ।।  
किञ्चित् कदाचित् कुर्वश्च न विजानाति तत्पुनः ।  
प्रारब्धवासनाभ्यां तु स देहो निर्वहेत् सदा ।।”  
(तदेव, 21/48-50)
4. “मुक्ता हि ज्ञानिनो लोके ह्युत्तमाधममध्यमाः ।  
प्रारब्धोपनतैर्भोगैः खिद्यमानाः क्षणे क्षणे ।।  
स्वरूपज्ञास्तु ये राम ते मन्दज्ञानिनः स्मृताः ।  
ये तु प्रारब्धसम्प्राप्तान् भुञ्जाना अपि नो विदुः ।।  
मधुक्षीबा रसमिव मध्यास्ते ज्ञानिनः स्मृताः ।  
ये तु प्रारब्धकोटीनां फलैरपि विचित्रितैः ।।  
न स्वस्थितेः प्रच्यवन्ते नोद्विजन्त्यापदां गणैः ।  
न विस्मयन्ते चाश्चर्यैर्न हृष्यन्ति महासुखैः ।।  
अन्तःशान्ता बहिलोकसमास्ते ज्ञानिषूत्तमाः ।  
एवं बुद्धिविभेदेन ज्ञानपाकविभेदतः ।।

प्रारब्धशेषमाहात्म्याद् व्यवहारा विचित्रिताः।”

(तदेव 18/162-67)

प्रारब्धकर्मणां भोगस्तावदपरिहार्यः। ज्ञानी त्वात्मनिष्ठया तदुपेक्ष्य ब्रह्मणि प्रतिष्ठां लभते। अत्र भगवद्गीतायाः श्लोकार्थं महत्त्वं भजते---

“ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा।।”

(गीता, 4/37)

अत्र व्याख्याकारा वैविध्यं भजमाना अपि प्रारब्धविषये सम्मतिं दधति।

1. “सामर्थ्याद् येन कर्मणा शरीरमारब्धम्, तत् प्रवृत्तफलत्वादुपभोगेनैव क्षीयते। ---- अतो यानि अप्रवृत्तफलानि ज्ञानोत्पत्तेः प्राक् कृतानि ज्ञानसहभावीनि चातीतानेकजन्मकृतानि च तान्येव सर्वाणि भस्मसात् कुरुते।”  
(शङ्करः)
2. “अनादिकालप्रवृत्तानन्तकर्मसञ्चयं भस्मीकरोति।”  
(रामानुजः)
3. “सर्वकर्माणि नित्यनैमित्तिककाम्यप्रतिषिद्धरूपाणि।”  
(पैशाचभाष्यम्)
4. “ज्ञानोत्पादकदेहारम्भकस्य प्रारब्धफलकर्मणो भोगेनैव तद्देहान्ते नाशः, सञ्चितागामिनां तु ज्ञानेन विनाशः।”  
(वेङ्कटकटब्रह्म)
5. “प्रारब्धकर्मणां तु स्वोत्पत्तिकालसम्भूतत्वान्न दाहः, अन्यथा ज्ञानं न स्यात्।”  
(वल्लभः)
6. “कर्माणि प्रारब्धादन्यानि।”  
(नीलकण्ठः)

सूत्रकारा अप्यत्र तथैवाहुः, यथा गीताया व्याख्यातारो ब्रुवते स्म। तथा हि---



“अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः।” (ब्रसू, 4/1/15)

तथा हि शङ्करभगवत्पादाः -

“अप्रवृत्तफले एव पूर्वे जन्मान्तरसञ्चिते अस्मिन्नपि च जन्मनि प्राग्ज्ञानोत्पत्तेः। सञ्चिते सुकृतदुष्कृते ज्ञानाधिगमात् क्षीयेते, न त्वारब्धकार्ये सामिमुक्तफले, याभ्यामेतद् ब्रह्मज्ञानायतनं जन्म निर्मितम्।” (भाष्यम्)

“निदिध्यासनशीलस्य बाह्यप्रत्यय ईक्ष्यते ।

ब्रवीति श्रुतिरेतस्य प्रारब्धं फलदर्शनात् ॥”

(विवेकचूडामणिः, 446)

“प्रारब्धं बलवत्तरं खलु विदां भोगेन तस्य क्षयः

सम्यग्ज्ञानहुताशनेन विलयः प्राक्सञ्चितागामिनाम्।

ब्रह्मात्मैक्यमवेक्ष्य तन्मयतया ये सर्वदा संस्थिता -

स्तेषां तत् त्रितयं न हि क्वचिदपि ब्रह्मैव ते निर्गुणम्॥”

(विवेकचूडामणिः, 454)

“कर्मणा निर्मितो देहः प्रारब्धं तस्य कल्प्यताम्।

नानादेरात्मनो युक्तं नैवात्मा कर्मनिर्मितः ॥”

(विवेकचूडामणिः, 459)

अत्र विद्यारण्यस्वामिनः संक्षिप्य निजगदुः ---

“प्रारब्धकर्मप्राबल्याद् भोगेष्विच्छा भवेद्यदि।

क्लिश्यन्नेव तदाप्येष भुङ्क्ते विष्टिगृहीतवत् ॥”

(पञ्चदशी, 7/143)

“प्रारब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारो निवर्तते ।

कर्माक्षये त्वसौ नैव शाम्येद् ध्यानसहस्रतः ॥”

(पञ्चदशी, 7/263)

नैयायिका अप्याहुः—

“ननु तत्त्वज्ञानस्य कथं धर्माधर्मनाशकत्वम्? नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपीति वचनविरोधात्। इत्थं च तत्त्वज्ञानिनां झटिति कायव्यूहेन सकलकर्मणां भोगेन क्षय इति चेन्न। तत्र भोगस्य वेदबोधितनाशकोपलक्षकत्वात्। कथमन्यथा प्रायश्चित्तादिना कर्मणां नाशः? ----- प्रारब्धेतरकर्मणामेव (तत्त्वज्ञानेन) नाशात्। तत्तच्छरीरभोगजनकं हि यत्कर्म तत् प्रारब्धम्। तदभिप्रायमेव (प्रारब्धकर्माभिप्रायमेव) नाभुक्तमिति वचनमिति।”

(न्यायमुक्तावली, 114)

अथायं निष्कर्षः

भारतीयदर्शनेषु कर्मिणां मनुष्याणां कृते या विपाकव्यवस्था पुनर्जन्मव्यवस्था च प्रतिष्ठापिता विद्यते, सा प्रायेण जीवात्मानमुररीकृत्य प्रसरति। अपवादरूपेण तु बौद्धाः स्कन्धेषु सत्कायदृष्ट्या प्रतीयमानमात्मानं मिथ्या घोषयाञ्चक्रुः। तन्मते नैरात्म्यसिद्धिरेव निर्वाणाय प्रभवति। ये खलु अनात्मवादिनस्ते संसारचक्रं हातुं न क्षमन्ते। अत एव तेषां पञ्चस्कन्धात्मकः सङ्घातः सन्तानरूपेण क्षणे-क्षणे जायमानो म्रियमाणश्च मिथ्या नैरन्तर्यं वहन्निविद्याया शरीररूपतयात्मरूपतया च प्रतिभासते। सूक्ष्मः खलु स्कन्धसङ्घातः कर्मविपाकाय जायते विविधासु योनिषु भोगांश्च प्रपद्यत इतीयं पृथग्जनानां संसृतिः। आर्यास्तु चरमं स्कन्धसङ्घातं समवाप्य नैरात्म्यं च साधयित्वा निर्वाणं गच्छन्ति येन न पुनः संसारः कर्मविपाको वेति। तत्र पूर्वस्कन्धसङ्घातरूपे स्थूलदेहे निपतिते परस्कन्धसङ्घातलाभात् प्राग् मरणजन्मान्तरयोरन्तराले प्रतिसन्धिः। तथा चाहुः---

“अस्ति कर्म, अस्ति विपाकः। कारकस्तु नोपलभ्यते य इमांश्च स्कन्धान् प्रतिनिक्षिप्यान्यान् स्कन्धान् प्रतिसन्दधाति।”

(विभाषाप्रभा, 297 उद्धरण)

अत्र प्रतिवादो जायते। नात्मवादिनो नाम ताथागतानां नैरात्म्यसिद्धिं तदभिमतानि निर्वाणरूपां तथागतिं च समीहन्ते। आत्मसत्त्वे या



कर्मविपाकव्यवस्था क्रियते तत्रापि कर्मनिर्हारो जायत एव। अथ च कर्मनिर्हारः केवलज्ञानेन विवेकेन वा भवति। निःसङ्गेन कृतानि कर्माणि दग्धबीजवन्न जन्मने प्रभवन्ति। का क्षतिः स्यादीश्वरोऽपि भवेत्। स्कन्धसन्तानसङ्घातेन सह सौगता अपि वासनासन्तानं स्वीचक्रुः। तत्रात्मवासनेश्वरवासना च प्रभवतश्चेत् तर्हि मोक्षाय नैष्कर्म्यसिद्धिरेव पर्याप्नोति। नेमे वासने तथा संसाराय प्रभवतो यथान्यविषयवासनाः। अत एव तत्र तत्र ब्रह्मवादो जीववादो बहुजीववाद एकजीववादश्च तत्तद्दर्शनेषु विवेच्यन्ते।

अस्मिन् विषये जैनाः कर्मणशरीरं स्वीकृत्य पुनर्जन्म व्यवस्थापयन्ति। स्थूलशरीरं च ते औदारिकशरीरमित्याहुः। सुखदुःखभोगायौदारिकशरीरमेव प्रभवति। मृत्युजन्मनोर्मध्ये कर्मणशरीरं कर्मभोगाय तदनुरूपमौदारिकशरीरं लब्धुं सरति। इदं च कर्मणशरीरं सांख्यानामातिवाहिकशरीरकल्पं सूक्ष्मशरीरकल्पं वा।

काणादा गौतमीयाश्च नातिवाहिकशरीरमङ्गीचक्रुः। मीमांसका अपि ताननुसरन्ति। शुभाशुभकर्मणां विपाकाय मन एव तत्तद्देहान् धारयितुं क्षमत इति। सांख्यानां मतेन नातिवाहिकशरीरं विना सूक्ष्मशरीरं पुनर्जन्मने प्रभवति। इदं चातिवाहिकशरीरं मरणानन्तरं जायते स्थूलदेहं दत्त्वा च निवर्तत इति। इयमेव प्रायो वेदान्तिनां सम्मतिः।

पातञ्जलास्तु भोगानुकूलस्थूलशरीरग्रहणाय यावन्ति कर्माणि प्रधानतया समर्थानि भवन्ति तेषां सङ्घातः कर्माशयरूपेण सङ्घीभवति। तेन च कर्माशयेन या योनिर्लभ्यते तत्र तदनुरूपा एव वासनाः कर्माशयेनोद्बोध्यन्ते वासनाभिश्च भोगाः प्रसरन्तीति वदन्ति।

वेदान्तिनां मतेन मरणानन्तरं पृथिवीं जलं च विहाय तेजोवायुव्योमात्मकं शरीरमातिवाहिकशरीरमिति निगद्यते। तच्च शरीरमातिवाहिकदेवता परिचालयति, तत्र तत्र लोकेषु योनिषु च नयति। इमाश्च देवताः प्रतिजीवं वैविध्यं धारयन्ति, क्वचिद् वायुः क्वचिदग्निरित्यादि। मुक्तात्मानोप्यातिवाहिकदेवतयैव ब्रह्मलोकं नीयन्ते।

सर्वेषां मतेन प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः। अकाले प्रारब्धकर्मनाशे  
देहनाशप्रसङ्गात्। देहो हि भोगाय कर्मणे च प्रभवति ज्ञानायापि।  
अत उक्तं कविकुलगुरुणा ---

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनमिति।

सञ्चितानि कर्माणि तु नाशयितुं शक्यन्ते। तत्र शुभैः  
कर्मभिरशुभानामशुभैश्च बहुलतरैः शुभानां नाशो भवतीति व्यवस्था।  
काम्यकर्माण्येव सञ्चितानि प्रारब्धानि च भवन्ति। अत एव वेदान्तेषु  
यज्ञादीनां काम्यकर्मणां निषेधः क्रियत इति शम्।

---



प्रामाण्यवादः

1101 no. 212



## प्रस्तावना

ज्ञानं तत्प्रामाण्यं तदप्रामाण्यं च किम्?

ज्ञानमुत्पत्तिविनाशशीलं क्षणिकं चेति बौद्धा नैयायिकादयश्च। ज्ञानमात्मनः क्षणिकः परिणाम इति भाट्टमीमांसकाः, प्राभाकरा जैनाश्च। ज्ञानमात्मनः स्वरूपं किन्तु वृत्तिज्ञानं चित्तवृत्तिरूपं चित्तस्य परिणाम इति सांख्याः, पातञ्जला अद्वैतवेदान्तिनश्च। आत्मनो गुणो ज्ञानम् वृत्तिज्ञानं च परिणामरूपमिति वैष्णवाः। आत्मनः स्वरूपभूता ज्ञानशक्तिरेव तथा तथा सङ्कोचं गृह्णती विषयज्ञानत्वं लभत इति शैवाः शाक्ताश्च। इयं प्रस्थानभेदेन तत्र तत्र दर्शने व्यवस्था दृश्यते। विषयज्ञानं वृत्तिज्ञानं वा जन्म-नाश-शीलं वा स्यादविर्भावतिरोभावस्वभावं वेति नेह विचारणाया विषयः, किं तर्हि, ज्ञानस्य प्रामाण्यं प्रमात्वरूपमप्रामाण्यं चाप्रमात्वरूपं कथं निर्धार्यत इत्येव विचाराय प्रस्तुतं विद्यते।

तत्रापि चक्षू रूपं च प्रतीत्य चक्षुर्विज्ञानमुत्पद्यत इति प्रतीत्यसमुत्पादानुरोधिना बौद्धाः। तदनुसारेणेन्द्रियं विषयश्च ज्ञानजनिका सामग्री। तच्च ज्ञानं निर्विकल्पकमेव भवति, प्रत्यक्षानन्तरं स्वसंवेदनं जायते, ततश्च मनोविज्ञानमिति सौगतानां क्षुण्णः पन्थाः। इयं प्रत्यक्षत्रितयी नार्थक्रियाकारिणी भवति, निर्विकल्पकधर्ममात्रविषयकत्वाद्, धर्माणां रूपादीनां क्षणोत्पादनाशशीलत्वात्। यश्च धर्मी स सविकल्पक एवेति मिथ्यैव। मिथ्या सदपि यत् कल्पनारूपं ज्ञानं तदेवार्थक्रियां व्यावहारिकीं जनयति, तच्चानुमानमेव। न हि सविकल्पकं ज्ञानं कथमपि तेषां मते प्रत्यक्षत्वभागिति।

ततश्चार्थक्रियाकारित्वादेव हेतोः प्रत्यक्षस्य प्रमात्वमनुमीयते, अर्थक्रियाकारित्वाभावाच्चाप्रमात्वस्यानुमानमिति प्रामाण्याप्रामाण्ययोः परतस्त्वं सौगतानां मतं तिष्ठति। स्वसंवेदनं मनोविज्ञानं च नार्थक्रियामनुरुन्धातु इति तयोः स्वत एव प्रामाण्यम्।

नैयायिकास्तु व्याचक्षते - आत्ममनःसंयोगः, मनसा चेन्द्रियसंयोगः, इन्द्रियस्य च विषयेण सन्निकर्ष इति चतुष्टयसन्निकर्षसामग्र्या प्रत्यक्षं ज्ञानं जन्यते। लिङ्गपरामर्शादिसामग्र्यानुमितेः, अतिदेशवाक्यादिसामग्र्योपमितेः, पदपदार्थसम्बन्धज्ञानसामग्र्या च शाब्दज्ञानस्योत्पत्तिः। उत्पन्नस्य च ज्ञानस्य प्रमात्वमप्रमात्वं वानुमानेनैव बाह्यार्थसंवाद-विसंवादहेतुकेन निर्धार्यत इति द्वयोः परतस्त्वम्, अनुमानेन पूर्वप्रमाणभिन्नेन तदवसायादिति।

तन्नेति मीमांसकाः। ज्ञानस्य क्षणिकत्वेन नानुव्यवसायेन तन्निश्चयः किन्तु यथा सामग्र्या ज्ञानं जन्यते तथैव प्रामाण्यं जन्यते। इत्थं स्वजनकसामग्रीजन्यत्वं ज्ञानप्रामाण्यस्योत्पत्तौ स्वतस्त्वम्। ज्ञानेन विषये ज्ञातता जन्यते, ज्ञाततया च ज्ञानमनुमीयते ज्ञातो मया घट इति। तथैव पुनः प्रामाण्यमप्यनुमीयत इति स्वग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वरूपं ज्ञानस्य ज्ञप्तौ स्वतस्त्वम्। यत्र ज्ञानस्य व्यभिचारो दृश्यते तत्र तु दोषज्ञानेन प्रामाण्यं निरस्यत इत्यप्रामाण्यस्य परतस्त्वं फलतीति भाट्टाः।

प्राभाकरास्तदपि न सहन्ते। सन्निकर्षादिसामग्र्या जातं ज्ञानं घटादिविषयिणी संविदं जनयति। संविच्च स्वतः प्रमैवेत्युत्पत्तौ स्वतस्त्वम्। संविदा ज्ञानस्य प्रामाण्यस्य च स्वतो ज्ञप्तिः, स्वयंप्रकाशत्वात्। अख्यात्या यत्र शुक्तिकादौ रजतज्ञानं तत्र स्मृतं रजतं प्रतीयत इति तत्रापि ज्ञानस्य प्रामाण्यमेवेति। संविच्चापि स्वयंप्रभेति।

मण्डनमिश्राः पुनराहुः। न ज्ञानं कुतोऽपि जन्यते, आत्मस्वरूपत्वेन नित्यत्वात्। ज्ञप्तौ तु स्वग्राहकज्ञानेतरज्ञानग्राह्यत्वं चेत् तर्हि अप्रामाण्यस्य परतस्त्वम्, प्रामाण्यस्य पुनः स्वतस्त्वमेव, स्वग्राहकज्ञानग्राह्यत्वात्। ज्ञानस्य स्वरूपत एकत्वेऽपि व्यवहारोपाधिकं भेदमारोप्य ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च कल्प्यत इति।

सांख्या यौगाश्च चित्तवृत्तिरूपं ज्ञानं चित्तपरिणामं मन्वाना अध्यवस्यन्ति ज्ञानं स्वत एव प्रमारूपमप्रमारूपं वा परिणामरूपमुत्पत्तिं

लब्ध्वा तथैव ज्ञप्यते चेति न परतस्त्वं क्वचिदिति।

वेदान्तिनां प्रस्थानेषु साङ्गिग्राह्यत्वेन प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वमेवेति सर्वे। अद्वैतिनोऽप्रामाण्यस्य परतस्त्वमभ्युपयन्ति। सत्ख्यातिवादिनो विशिष्टाद्वैतिनस्तु ज्ञानस्याप्रामाण्यं न मन्वते।

अभ्यासदशायां प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वमनभ्यासदशायां च परतस्त्वम्, अप्रामाण्यस्य च परतस्त्वमेवेति जैनाः।

शैवाः किल साक्षिवेद्यस्य प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वमप्रामाण्यस्य च परतस्त्वमिति संक्षेपः।

इह ज्ञानस्य प्रमाया अप्रमायाश्च स्वरूपं न विवेच्यतामर्हति किन्तु प्रामाण्याप्रामाण्ययोः स्वतस्त्वपरतस्त्वे एव सारग्राहिण्या सूक्ष्मेक्षिकया निदर्शनीये इति दिक्।

+ + + + +





## प्रामाण्यवादस्य पूर्वपीठिका

प्रामाण्यवादविचिकित्सायां तावत् किमिदं प्रामाण्यं नाम? नेह प्रमाकरणस्य प्रामाण्यं विविदिषाया विषयः, किं तर्हि, प्रमायाः। ततश्च प्रमात्वपर्यायोऽयं प्रामाण्यशब्द उपपद्यते, प्रमैव प्रमाणमिति। प्रपूर्वकान्माधातोर्भाववचनो ल्युट् इति प्रमाणशब्दस्य निष्पत्तिः। प्रमाणस्य भावः प्रामाण्यम्। प्रमात्वमिति यावत्। ज्ञानं किञ्चिज्जातं सत् स्वत एव प्रमात्वं वहति, परतो वा तन्निश्चयः क्रियत इति विचिकित्साविषयः। परत इत्यस्यानुमानादित्यर्थः। एवमेवाप्रामाण्यस्यापि स्वतस्त्व-परतस्त्वे ऊहनीये। तथा हि न्यायमञ्जर्या जयन्तभट्टः ---

किं विज्ञानानां प्रामाण्यमप्रामाण्यं चेति द्वयमपि स्वत उतोभयमपि परत आहोस्विदप्रामाण्यं स्वतः प्रामाण्यं तु परत उतस्वित् प्रामाण्यं स्वतोऽप्रामाण्यं तु परत इति।

(न्यायं, भागः 1, पृ. 146-47)

तत्र प्रामाण्याप्रामाण्ययोः स्वतस्त्वपक्षः कापिलानां पातञ्जलानां च। उभयोः परतस्त्वं काणादानां गौतमीयानां च। स्वत एव प्रामाण्यं परतश्चाप्रामाण्यमिति भाट्टमीमांसकानामद्वैतवेदान्तिनां च पक्षः। स्वतः खल्वप्रामाण्यं परतश्च प्रामाण्यमिति बौद्धाः।

ज्ञेयं प्रति ज्ञानस्य व्यभिचारराहित्यं प्रामाण्यं प्रमात्वं वा। अव्यभिचारि हि ज्ञानं यथार्थानुभवत्वेन प्रमा वा प्रमाणं वा निगद्यत इति। अत्र विप्रतिपत्तयः ---

- क. ज्ञानजनक-सामग्र्या एव ज्ञानस्य प्रामाण्यमुत्पद्यते, ज्ञानग्राहक-सामग्र्यैव च प्रामाण्यस्य ज्ञप्तिर्भवतीति प्रामाण्यस्योत्पत्तिज्ञप्त्योः स्वतस्त्वम्।
- ख. ज्ञानजनकसामग्र्या ज्ञानस्याप्रामाण्यमुत्पाद्यत इत्यप्रामाण्यस्योत्पत्तौ स्वतस्त्वम्।
- ग. ज्ञानग्राहकेतरसामग्र्या (अनुमानेन) ज्ञानस्य प्रामाण्यं ज्ञाप्यत इति प्रामाण्यस्य परतस्त्वम्।
- घ. ज्ञानजनकेतरसामग्र्या प्रामाण्यं जन्यते, ज्ञानग्राहकेतरसामग्र्या च ज्ञाप्यत इत्युत्पत्तिज्ञप्त्योः परतस्त्वम्।
- ङ. ज्ञानग्राहकेतरसामग्र्या अप्रामाण्यं गृह्यत इति अप्रामाण्यस्य ज्ञप्तौ परतस्त्वम्।
- च. ज्ञानं स्वत एव प्रमारूपेणाप्रमारूपेण वोत्पद्यते तथैव गृह्यत इति प्रामाण्याप्रामाण्ययोरुत्पत्तिं ज्ञप्तिं चाधिकृत्य स्वतस्त्वम्।

+ + + + +



## अथ स्वतस्त्ववादाः

येषु शास्त्रेषु प्रामाण्याप्रामाण्ये, प्रामाण्यमेव वा स्वतोऽभ्युपेयते किंवा नाप्रामाण्यमङ्गीक्रियते किन्तु स्वतस्त्वं प्रत्याग्रहः क्रियते तान्येवात्र सङ्कलय्य प्रतिपाद्यन्ते।

### सांख्ययोगयोः स्वतस्त्वम्

सांख्यानां यौगानां च मतेन विषयाकारो बुद्धिपरिणाम एव ज्ञानस्योत्पत्तिः। तच्च वृत्तिरूपं ज्ञानं यत्स्वरूपमुत्पद्यते तत्स्वरूपमेव प्रमाणमप्रमाणं वा भवति। विषयाकारा ज्ञानवृत्तिः पुरुषे प्रतिबिम्बते। तथाभूतं प्रतिबिम्बनमपि प्रमारूपं वा स्यादप्रमारूपं वेति ज्ञप्तिरपि नान्यद् ग्राहकमपेक्षते। प्रमाणरूपं ज्ञानं चाप्रमाणरूपमज्ञानं च क्रमेण बुद्धेः सात्त्विकतामसौ परिणामौ। एवं च तत्त्वसर्गदृशा प्रमाणाप्रमाणयोरुत्पत्तिरेव प्रामाण्याप्रामाण्ययोरुत्पत्तिः। ताश्चित्तवृत्तयः पञ्च। तथा हि ---

प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृतयः। (योसू 1/6)

अत्र प्रमाणवृत्तिरेकापि त्रिधा विभज्यते - प्रत्यक्षमनुमानं शब्दश्चेति। तदितरवृत्तयो विपर्ययादयश्चतस्रः। तत्र विपर्यय एव दर्शनान्तरेष्वप्रमाणमिति प्रायो निगद्यते। इमाश्च वृत्तयः स्वरूपत एव स्वगतं प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा ज्ञापयन्तीति ज्ञप्तेः स्वतस्त्वम्। विपर्ययादिकाले प्रमाणवृत्तेः प्रवृत्तिरेव नेति कुतो नामाप्रामाण्यस्योत्पत्तिज्ञप्ती परतः (अनुमानरूपप्रमाणान्तरेण) स्याताम्? प्रमाणस्य विषये युक्तिदीपिकायामुक्तम्---

न च प्रमाणं स्वार्थसिद्धये प्रमाणान्तरमपेक्षते। (सांका 6 युदी)

प्रामाण्यस्य स्वत उत्पत्तौ ज्ञप्तौ च सत्यामेव पुरुषः प्रवर्तते, वृत्तेश्च प्रमाणरूपायाः पुरुषे प्रतिबिम्बनमेव प्रतिसंवेदनरूपं फलं प्रमेति भण्यते। पुरुषश्चात्र दर्शने निर्विकारो निष्क्रिय इति कुतः परतस्त्वं भवेत्। एवमप्रामाण्यमपि स्वत एवोद्भूतम्। तथा हि अचेतनायां बुद्धौ प्रतिबिम्बितं चैतन्यं चेदतद्विषयाकारमवगाहते तर्हि स्वत एवाप्रमात्वमुत्पद्यते ज्ञप्यते च। शब्दप्रमाणमधिकृत्य वाचस्पतिमिश्राः प्राहुः ---

श्रुतिर्वाक्यजनितं वाक्यार्थज्ञानम्। तच्च स्वतः प्रमाणम्, अपौरुषेय-  
वेदवाक्यजनितत्वेन सकलदोषाशङ्काविनिर्मुक्तैर्युक्तं भवति।  
एवं वेदमूलस्मृतीतिहासपुराणवाक्यजनितमपि ज्ञानं युक्तं भवति।  
(तत्त्वकौमुदी 5)

अत्र प्रत्यवतिष्ठन्ते परे। वेदप्रामाण्यमिह सकलदोषाशङ्काविनिर्मुक्तेर्हेतुना साध्यत इत्यनुमानमेव शरणीकृतं स्यात्। स्मृत्यादीनामपि वेदमूलकत्वहेतुनानुमानाधीनमेव प्रामाण्यमिति सांख्यानां नैयायिकानां च परतस्त्वे को भेद इति? अत्रोच्यते। शङ्काधीनमेव प्रामाण्यस्य परतस्त्वमिति मनसिकृत्य तथोक्तम्। निःशङ्कज्ञानस्य स्वत एव प्रामाण्यमिति तत्त्वम्।

ननु वञ्चकवाक्याज्जायमानं वाक्यार्थज्ञानं स्वतः परतो वा प्रमाणम्? वाक्यार्थज्ञानवृत्तिश्चेत् प्रमारूपा जायते तर्हि शङ्काया विरहेण स्वतः प्रामाण्यम्, अथ सा वृत्तिरप्रमारूपा स्यात् तर्हि तदप्रामाण्यमपि स्वत एवेति हृदयम्। शङ्कायां सत्यां संशयवृत्तिरेवाप्रामाण्यं स्वतो जनयति ज्ञपयति चेत्यप्यनुसन्धेयम्। अत्र च सांख्यसूत्रम् ---

निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्। (सांसू 5/57)

ननु निजशक्त्यभिव्यक्तिहेतुना साध्यते चेद् वेदस्य प्रामाण्यं तदानुमानप्रमाणान्तःपातेन परतस्त्वमेव साधितं भवेत्। अत्राह विज्ञानभिक्षुः---

वेदानां निजा स्वाभाविकी या यथार्थज्ञानजननशक्तिस्तस्या मन्त्रायुर्वेदादावभिव्यक्तेरुपलब्धावखिलवेदानामेव स्वत एव प्रामाण्यं



*सिध्यति, न वक्तुयथार्थज्ञानमूलकत्वादिनेत्यर्थः। तथा च न्यायसूत्रम्  
(2/1/68) मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यादिति।  
(तत्रैव प्रवचनभाष्यम्)*

विज्ञानभिक्षोरियं व्याख्या विप्रतिपत्तिः प्रसूते - 1. न्यायसूत्रे  
ह्याप्तप्रामाण्यान्मन्त्रायुर्वेदयोः प्रामाण्यमाख्यायते। तत्राप्तप्रामाण्यहेतुना  
प्रामाण्यमनुमीयत इति परतः प्रामाण्यमेव। आप्तकामेनेश्वरेण कृतत्वेन  
लिङ्गेनैव वेदानां प्रामाण्यमिति स्वतःप्रामाण्यपक्षे न्यायसूत्रस्य प्रक्षेपो  
विक्षेपमेव प्रसूते। अपि च 2. लौकिकवाक्यानां प्रामाण्यं चेद्  
वक्तुयथार्थज्ञानेन हेतुनानुमीयते तर्हि शब्दप्रमाणस्य परतस्त्वमेव फलति।  
किं च 3. शब्दादर्थज्ञानं बुद्धिवृत्तिः, सा च पुरुषे प्रतिबिम्बते, येनासौ  
प्रतिसंवेदयते, तस्य च प्रतिसंवेदनस्य प्रमात्वमप्रमात्वं च स्वत एवेति  
सांख्यमतम्। तादृशस्य स्वतस्त्वस्य चर्चापि नाकारि। अथ च 4.  
अकर्तृको वेद एव वक्तेति चेत् तर्हि यथार्थज्ञानत्वरूपं प्रामाण्यं  
प्रमाणवृत्तेः पृथगेव स्यात्। तत्र प्रामाण्यं लौकिकवाक्येषु परत एव,  
यथार्थवक्तृकत्वाधीनत्वात्।

इत्थं च प्रमाणवृत्तिरिव प्रामाण्यवृत्तिरपि चेतसः स्वाभाविकः  
परिणाम इत्येव स्वतस्त्वं स्यात् सांख्ययोगयोः। एवमप्रामाण्यमपि। तथा  
हि प्रत्यक्षानुमानाप्तवचनानि वृत्तिज्ञानरूपाणि प्रमाणानि येषां प्रामाण्यं  
स्वतः। प्रमाणेतरवृत्तयस्त्वप्रमाणानीति स्वत एवाप्रामाण्यम्। न हि  
प्रमाणवृत्तिः स्वप्रामाण्याय परमनुरुणद्धि न वा अप्रमाणवृत्तिः। स्वरूपभावित्वं  
खलु स्वतस्त्वम्। स्वरूपत एव पुरुषस्य वृत्तीनां प्रतिसंवेदनमिति  
ज्ञप्तेरपि स्वतस्त्वम्। प्रतिसंवेदिनि खलु पुरुषे प्रतिसंक्रान्तं विषयाकारवृत्तिरूपं  
ज्ञानं स्वत एव प्रमा भवत्यप्रमा वेति न वृत्तेरितरत् प्रमात्वस्याप्रमात्वस्य  
वा जनकं ग्राहकं वेति उत्पत्तिवज्ज्ञप्तेरपि स्वतस्त्वं फलतीति।



अथ भाट्टमीमांसकानां प्रामाण्याप्रामाण्यविचितिः।

सर्वविज्ञानविषयमिदं तावत् परीक्ष्यताम् ।

प्रमीणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः किं परतोऽथवा ॥

(श्लोवा, चोदना 33)

उभयतः पाशा रज्जुरित्याहुर्भाट्टपादाः ---

स्वतस्तावद् द्वयं नास्ति विरोधात् परतो न च ।

निःस्वभावत्वमेवं हि ज्ञानरूपे प्रसज्यते ॥ (तत्रैव 35)

यद्यप्रामाण्यं प्रामाण्यं च द्वयमपि परत एवाभ्युपेयेते तर्हि प्रामाण्याप्रामाण्यनिश्चयात् प्राक् किं तज्ज्ञानं स्यात्? उदासीनेन केनापि ज्ञानेन भवितव्यम्। तच्च नास्तीति निःस्वभावता ज्ञानस्य प्रसज्यते -

कथं ह्यन्यानपेक्षस्य विपरीतात्मसम्भवः ।

किमात्मकं भवेत् तच्च स्वभावद्वयवर्जितम् ॥ (तत्रैव 36)

अन्यपेक्षां विना नाप्रामाण्यं जायते न वा ग्रहीतुं शक्यते। ननु बौद्धमतमवलम्ब्य स्वरूपसतो ज्ञानस्याप्रामाण्यमेव, परतश्च स्यात् प्रामाण्यम्?

तस्मात् स्वाभाविकं तेषामप्रमाणत्वमिष्यताम् ।

प्रमाणत्वं परापेक्षमत्र न्यायोऽभिधीयते ॥

अप्रामाण्यमवस्तुत्वान्न स्यात् कारणदोषतः ।

वस्तुत्वात् तु गुणैस्तेषां प्रामाण्यमुपजन्त्यते ॥

(तत्रैव 38-39)

नेदं मतं साधु । कुत इत्याहुः ---

स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम् ।

न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते ॥

(तत्रैव 47)

ज्ञानमेव विषये ज्ञाततया सह स्वप्रामाण्यं जनयति, तथा च ज्ञाततया ज्ञान-तत्प्रामाण्ययोर्ज्ञप्तिरिति हृदयम्। तादृशी च शक्तिः स्वत एव नाभविष्यत् तर्हि केनाऽज्जनिष्यत्। स्वतःप्रामाण्याधीनमेव च

प्रवृत्तिनिवृत्त्यो रूपाश्रयणम्---

आत्मलाभे च भावानां कारणापेक्षता भवेत् ।

लब्धात्मनां स्वकार्येषु प्रवृत्तिः स्वयमेव तु ॥ (तत्रैव 48)

यावन्न भावस्य ज्ञानस्योत्पत्तिस्तावदेव कारणापेक्षा। यदा तदुत्पन्नं तदा प्रवृत्तिः स्वत एवेति प्रवृत्तिव्यवस्थायै स्वतः प्रामाण्यमेव स्वीकार्यमिति भावः। ज्ञानानन्तरं तत्प्रामाण्यज्ञानेन स्वीकृतेनानवस्थापातः, प्रामाण्यज्ञानमपि हि ज्ञानं यत्कृते पुनः प्रामाण्यज्ञानमपेक्ष्येतेति। अप्रामाण्यं च दोषज्ञानाधीनमिति नानवस्था। इत्थं चाप्रामाण्यं परत एव।

दोषतश्चाप्रमाणत्वे स्वतःप्रामाण्यवादिनाम् ।

गुणज्ञानानवस्थावन्न दोषेषु प्रसज्यते ॥ (तत्रैव 56)

यदि प्रमाणान्तरायत्त-प्रामाण्यवदप्रमाणान्तरायत्तमप्रामाण्यं स्यात् ततः स्यादनवस्था। तत् तु प्रमाणभूतार्थान्यथात्वदोषज्ञानाधीनम्, प्रामाण्यं च स्वत इति नानवस्था। (न्यायरत्नाकरः)

+ + + + +

पार्थसारथिमिश्रः शास्त्रदीपिकायाम् (पृ. 32-36) कौमारिलमतस्य पुनराकलनं चकार। तस्यायं संक्षेपः ---

1. प्रामाण्यस्योत्पत्तिर्ज्ञानोत्पादकसामग्र्यैव भवति, तज्ज्ञप्तिश्चापि ज्ञानज्ञापकसामग्र्या (ज्ञाततया) भवति, किन्तु अप्रामाण्यस्योत्पत्तिर्ज्ञप्तिश्च ज्ञानजनकसामग्रीगतदोषज्ञानेन भवत इति कौमारिलमते प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वमप्रामाण्यस्य तु परतस्त्वम्।
2. उभे अपि प्रामाण्याप्रामाण्ये स्वत एवेति सांख्याः। तन्ना न हि ज्ञानं युगपत् स्वस्य यथार्थतामयथार्थतां च प्रकाशयितुमलम्। तत एव नैयायिका द्वयोरपि परतस्त्वं स्थापयन्ति। तदपि वार्तम्। ज्ञानं चेत् प्रामाण्यमप्रामाण्यं च परत एव (अनुमानेन) लभते तर्हि तन्निर्धारणात् पूर्वमुत्पन्नस्य



ज्ञानस्य निःस्वभावता प्रसज्यते। न क्वचिज्ज्ञानं निःस्वभावं  
दृष्टम्, तस्य विषयाकारस्वभावत्वात्। तथा चाह  
पार्थसारथिः---

परापेक्षं प्रमाणत्वं नात्मानं लभते क्वचित् ।

मूलोच्छेदकरं पक्षं को हि नामाध्यवस्यति ॥

(शास्त्रदीपिका, पृ. 34)

अर्थक्रियाकारित्वज्ञानेन हेतुना प्रामाण्यम्, तदभाक्ज्ञानेन हेतुना  
चाप्रामाण्यमवधार्यत इति नैयायिकानां वाचोयुक्तिर्न क्षोदक्षमेत्याह ---

यदि हि सर्वमेव ज्ञानं स्वविषयतथात्वावधारणे स्वयमसमर्थं  
विज्ञानान्तरमपेक्षेत, ततः कारणगुणसंवादार्थक्रियाज्ञानान्यपि  
स्वविषयभूतगुणाद्यवधारणे परमपेक्षेरन्, अपरमपि तथेति न  
कश्चिदर्थो जन्मसहस्रेणाप्यध्यवसीयेतेति प्रामाण्यमेव सर्वत्रोत्सीदेत्।

(तत्रैव 35)

इदमत्र तात्पर्यम्। परतस्त्ववादिना ज्ञानकारणस्य - इन्द्रियादेः,  
पञ्चरूपोपपन्नस्य लिङ्गस्य, सादृश्यज्ञानस्य, पदपदार्थशक्ततीनां ज्ञानस्य  
च क्रमेण प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दप्रमाणेषु सुतरामपेक्षा क्रियते। ततो  
ज्ञानविषययोः संवादज्ञानमपेक्ष्यते। ततश्चार्थक्रियाज्ञानमिति ज्ञानत्रयी  
प्रामाण्यनिश्चयाय स्वीक्रियते। अप्रामाण्यस्थले च पुनरिन्द्रियादेर्दोषज्ञानस्य,  
विसंवादस्य, अर्थक्रियाकारित्वाभावस्य च ज्ञानत्रयी परतस्त्वमवधारमति।  
हन्त तर्हि एतान्यपि ज्ञानानि ज्ञानान्तरेणैव प्रमाणानि स्युरित्यनवस्थैव  
नैयायिकस्य लाभ इति।

यावदप्रामाण्यशङ्का तावदनुमानेन प्रामाण्यमिति नव्यनैयायिकाः।

अत एव नानवस्थेत्यवजानान एव पुनः प्राह -

अथार्थक्रियाज्ञानं स्वतः प्रमाणमिति चेत्, को विशेषः? अव्यभिचार  
इति चेन्न, स्वप्नावस्थायामसत्यप्युदकाहरणेऽर्थक्रियाविज्ञानदर्शनात्।

(तत्रैव)

अर्थक्रियाविषयकं विकल्पं निराकुर्वन्नाह ---



अथ सुखज्ञानमेवार्थक्रिया, तच्चाव्यभिचार्येव, न हि क्वचिदप्यसति सुखे सुखज्ञानमस्ति। सत्यमेतत्। न तु तेन पूर्वज्ञानस्य प्रामाण्याध्यवसानं सम्भवति, अप्रमाणेनापि प्रियासङ्गमविज्ञानेन स्वप्नावस्थायां सुखदर्शनात्। (तत्रैव)

तस्मादयं कौमारिलानां सिद्धान्तः ---

तस्मात् स्वतः प्रामाण्यं प्राप्तमर्थान्यथात्व-कारणदोषज्ञानाभ्यामपोद्यत इत्यवश्यमङ्गीकरणीयम्। एवं च शब्देनाप्तपुरुषसंस्पर्शकृतत्वाद् दोषाणाम्, अपौरुषेये वेदे तदभावात्, साक्षाच्चाथान्य-थात्वज्ञानाभावादनपोदितं प्रामाण्यं भवति। पौरुषेयवचनानि तु पुरुषबुद्धिप्रभवत्वाद् भ्रान्त्या विप्रलिप्सया वा प्रयुक्तानि मूलदोषेण दूषितत्वादियथाथानि भवन्तीति वैषम्यम्। (तत्रैव 35-36)

आस्तां तावद्। वेदानां स्वतः प्रामाण्यमपौरुषेयत्वादित्युनमानेनैव स्वतः प्रामाण्यमपि सेत्स्यति। तेन च स्वतस्त्वस्यापि परतस्त्वमेव फलति। नानुमानं विहायापवदनं सम्भवति, तेन दोषज्ञानाभावहेतुना परत एव सर्वत्र प्रामाण्यमधिगतं स्यादिति चेन्न। ज्ञानानां स्वरूपतः प्रामाण्यस्वीकारात्, दोषज्ञानेन हेतुनानुमानेन परतोऽप्रामाण्यस्य व्यवस्थानात्। तन्न यथावन्मनुते नव्यमीमांसकधुरीणो गागाभट्ट इत्युपरिष्ठादाकलयामः।

+ + + + +

तत्र विप्रतिपत्तिस्वरूपं तावत् ---

ज्ञानप्रामाण्यं ज्ञानहेतुभिन्नहेतुजन्यं ज्ञानग्राहकभिन्नज्ञानग्राह्यं च, उत्तरज्ञानसामग्रीजन्यं ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यं वेति?

(भाट्टचिन्तामणिः, पृ. 11)

गागाभट्टैरिह पूर्वोत्तरपक्षयोः सविस्तरमालोचनं विधाय मीमांसासिद्धान्तं चोक्तरीत्या पुरस्कृत्य “समानसंवित्संवेद्यत्वं स्वतः प्रामाण्यम्” इति व्यवस्थाप्य स्वाभिमतं निजगाद ---

क्वचित् तु ज्ञात्वा प्रामाण्यं प्रवर्तते इत्यनुभवात्, जातं ज्ञानं

प्रमा न वेत्यादि-संशयानुभवान्न ज्ञानमात्रे स्वतःप्रामाण्यनिश्चयो  
युक्तः। नापि परतःप्रामाण्यं क्वचित् सिद्धान्तभङ्गापादकम्,  
किन्तु कुत्रचित् स्वतःप्रामाण्यग्रहः क्वचित् परत इत्यननुगत  
एव प्रामाण्यग्रहः शक्तिग्रहवत्। तेन वेदजन्यज्ञाने संशयाभावात्  
स्वतःप्रामाण्यम्, तद्भिन्ने तु परतः प्रामाण्यं जायते। अत एव  
स्मृतिजन्यज्ञाने सन्मूलकत्वगुणज्ञानादेव प्रामाण्यं  
सिद्धान्तेऽप्यङ्गीकृतमिति युक्तमुत्पश्यामः। (तत्रैव 15)

एतेन वेदस्थलं विहाय सर्वत्र परत एव प्रामाण्यं स्वीकृतं भवति।  
वेदेऽपि चानादित्वादीश्वरकृतत्वाद् वा हेतोः स्वतःप्रामाण्यमनुमीयत इति  
परतः प्रामाण्यमेव तत्राप्यधिगतं स्यात्। अपि चोत्पन्नं सदेव ज्ञानं प्रमा  
वा स्यादप्रमा वेति न निश्चयः। प्रमात्वाप्रमात्वहीनं किमप्युदासीनमेव  
ज्ञानमुत्पद्यते किं नु? एतस्य प्रश्नस्यानुत्तरितत्वेन न क्षोदक्षमं किंचिदुक्तं  
प्रतीयते। किं च संशयाभावे नानुमानं प्रसरतीति तत्र संशयाभावेनैव  
हेतुनानुमानं क्रियते, इदं ज्ञानं प्रमा संशयाभावादिति। सर्वथा जायमानज्ञानस्य  
स्वरूपं प्रामाण्याप्रामाण्यान्यतरलक्षणं न क्वचिद् विवृतम्।

प्राचां मतमेवास्थितं सायणेन। स च पूर्वपक्षमेव प्रथमतः  
पुरश्चकार। तथा हि -

क. ज्ञानोत्पत्तिरेव प्रामाण्योत्पत्तिरिति न सङ्गच्छते, कार्यकारण-  
योर्भेदेनैवोत्पत्तेर्व्यवस्थानात्। न हि यदेव ज्ञानं तदेव  
प्रामाण्यमिति कार्यभेदे सति कारणभेदस्यावश्यं भावात्।

ख. प्रामाण्याश्रयीभूताज्ज्ञानात् प्रामाण्यं जायत इत्यप्यसङ्गतम्,  
ज्ञानरूपगुणस्य प्रामाण्यं प्रति समवायिकारणत्वे तस्य  
द्रव्यत्वापातात्।

ग. प्रामाण्याश्रयीभूतस्य ज्ञानस्य या जनिका सामग्री, तत एव  
प्रामाण्योत्पत्तिरिति पक्षोऽपि तुच्छः, प्रामाण्यरूपप्रमात्वस्योपाधित्वे  
जातित्वे वा तस्य जन्यत्वासम्भवात्।

घ. ननु ज्ञानसामान्यसामग्रीजन्यत्वे सति ज्ञानविशेषाश्रितधर्मत्वं



प्रामाण्यस्वरूपमिति चेन्न। सामान्यसामग्र्यामेव विशेषसामग्र्या  
अन्तर्भूतत्वात्, अप्रमारूपज्ञानविशेषस्यापि सामग्र्या  
प्रामाण्योत्पत्ति- प्रसङ्गात्।

ड. अथ मात्रपदं निवेश्य निगद्यते, ज्ञानसामान्य-सामग्रीमात्रजन्यत्वे  
सति ज्ञानविशेषाश्रित-धर्मत्वं प्रामाण्यस्य लक्ष्णमिति, तदपि  
विकल्पासहम् - 1. दोषाभावसहितज्ञानसामग्रीमात्रजन्यत्व-  
मर्थश्चेत् तर्हि परतस्त्वमेव फलति, दोषाभावसन्निवेशेन  
ज्ञानसामग्र्या गुणसहिततत्त्वस्य प्रकारान्तरेण स्वीकारात्।  
2. दोषाभावस्य समावेशं विना नान्या गतिः, तादृश्या  
एव सामग्र्या अनन्यथासिद्धत्वात्।

इमा विप्रतिपत्तीर्निराकुर्वन् सिद्धान्तमाह

विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति तदतिरिक्तहेतुजन्यत्वं प्रमायाः  
स्वतस्त्वम्। .....विमता प्रमा विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति  
तदतिरिक्तजन्या न भवति, अप्रमात्वानधिकरणत्वाद् घटादिप्रमावत्.,  
....दोषाभावस्याप्रमाप्रतिबन्धकत्वेनान्यथासिद्धत्वात्।.....तथा  
प्रमाज्ञप्तिरपि ज्ञानज्ञापकसामग्रीत एव जायते। न च  
संशयानुदयप्रसङ्गो बाधक इति युक्तं वक्तुम्, सत्यपि  
प्रतिभासपुष्कलकारणे प्रतिबन्धकदोषादिसमवधानात् तदुपपत्तेः।  
किं च तावकमनुमानं स्वतः प्रमाणं न वा? आद्येनैकान्तिकता।  
द्वितीये तस्यापि परतः प्रामाण्यमेवं तस्य तस्यापीत्यनवस्था।

(सर्वदर्शनसंग्रहः, पृ 283-84)

यद्यपि परतस्त्ववादिनां मते नानवस्था, अनुमानस्य शङ्काधीनत्वात्,  
तथापि वेदानां स्वतःप्रामाण्यमभ्युपयता मीमांसकानां मते ज्ञानमात्रस्य  
स्वतस्त्वमेवेति। इत्थं च विषयेन्द्रियादिका या सामग्री ज्ञानस्योत्पत्तौ  
कारणं सैव प्रामाण्यस्योत्पत्तावपि। यया च ज्ञाततया ज्ञानमनुमीयते तयैव  
प्रामाण्यमपीति। ज्ञातताहेतुका यानुमितिः सैव ज्ञानप्रामाण्ययोर्ज्ञप्तिर्निगद्यते।  
अप्रामाण्यं च परत एवोत्पद्यते ज्ञाप्यते च। तथा हि- इन्द्रियादीनां दोषेण  
भ्रम उत्पद्यते तेनैव च भ्रमस्याप्रामाण्यमपि। यदा दोषज्ञानेन यत्र



प्रामाण्ये प्रतिबन्ध आपतति तदा तत्रानुमानेनाप्रामाण्यं ज्ञाप्यते गृह्यते वा। तथा चाप्रामाण्यस्य परतस्त्वमेव। यावत् दोषज्ञानं न जायते तावद् सर्वमेव ज्ञानं प्रमैवेति। दोषज्ञानेन प्रामाण्ये निरस्तेऽनुमितेरवसरः, सदोषेन्द्रियजन्यत्वाद् गुडस्य कटुताज्ञानमप्रमेति। यत्र न तादृशदोषज्ञानं तत्र न दोषो यथा गुडस्य माधुर्यज्ञानं प्रमैव। अप्रामाण्यज्ञप्तेः प्राक् प्रामाण्यमव्याहतमेव तिष्ठति। अत एव रज्जौ सर्पभ्रमे भयपलायनयोः प्रवृत्तिरुपलभ्यते। दोषज्ञानेन प्रतिबन्धे जाते संशयः, ततश्च न रजतबुद्ध्या शुक्तौ प्रवृत्तिः। संशयाभावे प्रवृत्तिरबाधैव। स्मृतिप्रमोषाधीना हि भ्रान्तिः, सा च रजतत्वरूपधर्मांश एव, न तु रजतरूपधर्मिणि। रजतं हि स्मृत्यारूढं प्रतीयते। न वा शुक्तिरूपधर्मिणि भ्रमः, तस्येदन्तया प्रतीयमानत्वात्। तत्तया रजतं न प्रतीयत इत्यत्र दोषः कारणम्। दोषेण तत्ताप्रमोषः, स एव स्मृतिप्रमोष इति।

### प्रभाकरमीमांसायां स्वतःप्रामाण्यम्

प्राभाकरा नाम नायथार्थं ज्ञानं क्वचिदङ्गीकुर्वन्ति। ततश्चाप्रामाण्यमेव न क्वचिद् घटते येन तस्यापि परतस्त्वमभ्युपेयं स्यात्। त्रिपुटीप्रत्यक्षता हि तेषां सिद्धान्तः। तमनुसृत्य स्मृत्यनुमानादिष्वपि ज्ञानज्ञात्रोः स्वरूपं प्रत्यक्षमेव भवति, प्रत्यक्षे विषयोऽपि प्रत्यक्षः, तदितरेषु विषयः परोक्ष इत्येव भेदः। सविषयं हि ज्ञानं संवित्, संवित्तिः संवेदनं वा निगद्यते, संविदा च ज्ञानरूपं भवत्वनुमेयं किन्तु संविद्रूपेण तु प्रत्यक्षतामेव वहति सर्वत्र। अत आहुः प्रभाकरपादाः---

स्वयं प्रमाणरूपत्वान्न प्रमाणान्तरमपेक्षते ज्ञानम् ।

(बृहती 1/1/5, पृ. 66)

न कारकं कारकान्तरमपेक्षते। न ह्युदकाहरणे घटो घटान्तरमपेक्षते।

(ऋजुविमला)

इदमत्राकूतम्। विषयेन्द्रियादिसन्निकर्षेण जातं ज्ञानं स्वजन्यया तद्विषयसंविदा ज्ञानादनतिरिक्तयानुमीयतां नाम, किन्तु स्वेतरज्ञानजन्यज्ञानेन नानुमीयते

ज्ञानम्। अतो नास्ति परतस्त्वस्पर्शलेशोऽपीति।

आस्तां तावत्। नोक्तयुक्तिशतैरपि स्वप्नव्यवस्था सुशका। तत्र हि विपरीतख्यातिरन्यथाख्यातिर्वाभ्युपगम्या स्यादेव। न हि सर्वत्र यथार्थख्यातिः शक्याभ्युपगमा, न वा तत्र तत्र त्रिपुटीप्रत्यक्षसिद्धान्त एव प्रसारं लभेतेति। मैवम्। तत्रापि यथार्थमेव स्वतःप्रमाणं ज्ञानमिति। तथा हि ---

स्वप्नेऽपि हि सुखदुःखमनुभूयते। सुखदुःखहेतुश्चादृष्टम्। ....  
किञ्चिच्चिन्तादिहेतुकमित्युपपन्नं शुक्तिकादिज्ञानतुल्यत्वं  
स्वप्नविज्ञानस्य। (बृहती 1/1/5, पृ. 55-56)  
चिन्ता च न तदान्तीतन्येव स्वप्नकारणं किन्तु कियत्यपि  
पुरस्तात् काले निर्वृतापि संस्कारमुखेन। ..... यत्र चिन्ता न  
दृश्यते तत्र स्वप्नज्ञानकार्यबलेनैव कारणकल्पना।

(ऋजुविमला)

अत्रेदं तत्त्वम्। स्वप्नविज्ञानमपि यथार्थम्, अदृष्टजन्यतया सुख-दुःखहेतुत्वात्। यथा शुक्तिरजतादिस्थले रजतज्ञानं स्मृतिरूपमपि प्रमोषेण प्रत्यक्षवद् भासते तथा स्वप्ने चिन्तादिरूपस्मृतेः प्रमोषः। तथा च भेदाग्रहेण प्रत्यक्षप्रतिभासः। किमपि ज्ञानं नार्थमतिक्रम्य जन्म लभत इति याथार्थ्यं तस्य पुष्कलम्। स्मृतिरपि विषयांश एव भवतु नामाप्रमाणं किन्तु ज्ञानांशे ज्ञात्रंशे चाव्याहृतैव प्रमाणता। अनयोरंशयोः प्रत्यक्षतैवेत्युक्तम्। अपि च ---

सर्वाश्च प्रतीतयः स्वयं प्रत्यक्षाः प्रकाशन्ते। तेन तासां  
स्वात्मनि युक्तमेव प्रत्यक्षत्वं प्रमाणत्वं च।

(प्रकरणपञ्चिका, पृ. 170)

न च ज्ञानान्तरादवगमः, ज्ञानान्तरादवगमेनावगमे चानवस्थाप्रसङ्गात्।  
तस्मादर्थज्ञानं स्वयंप्रकाशमेवाभ्युपेतव्यम्। (तत्रैव पृ. 189)

ननु ज्ञानं सव्यभिचारं दृष्टं यथा मृगतृष्णिकायां जलज्ञानं शुक्तौ वा रजतज्ञानमिति चेन्न। तथा हि---

ज्ञानस्य व्यभिचारे हि विश्वासः किं निबन्धनः।

ज्ञानस्य व्यभिचारेऽपि ज्ञातं यत् सत्यमेव तत् ॥ (पृ. 59)



यद्यपि शुक्तौ रजतज्ञानमर्थक्रियां व्यभिचरति तथापि स्मृत्यारूढस्य रजतस्य ज्ञानमयथार्थं कुतः, कुतश्च परतस्त्वम्, अर्थमनुरुध्यैव जायमानत्वात्। अथ ब्रूषे शुक्तावन्विष्यमाणं रजतं न दृश्यते, तेन तदप्रामाण्यं परतः स्वीक्रियत इति चेदाकर्णय ---

यत्नेनान्विष्यमाणेऽपि रूपं तच्चेन्न दृश्यते ।

तदा पूर्वैव संवित्तिस्तत्त्वेनाप्यपदिश्यते ॥ (पृ. 60)

पूर्वोत्पन्नां रजतसंविदं पश्चादुत्पन्ना शुक्तिसंवित् कथं बाधेत, तयोः कालभेदात्। इत्थं चोभे ज्ञाने यथाकालं यथार्थं एवेत्यर्थः। अपि विषयमनादृत्य ज्ञानं जायेतापि कथम्?

अयथार्थस्य बोधस्य नोत्पत्तावस्ति कारणम् ।

दोषश्चेन्न हि दोषाणां कार्यशक्तिविधातिता ॥ (पृ. 60)

दोषेषु सत्स्वपि नेन्द्रियादीनां ज्ञानोत्पादनशक्तिर्व्याहृत्यते। ज्ञानं च यं कमप्यर्थमेवापेक्ष्य जायत इति याथार्थ्यं प्रामाण्यं वा कः प्रतिहन्तुमीष्टे?

अत्र पुनरवधेयम्। संवित् प्रत्यक्षा। तज्जनकं ज्ञानं संविदैवानुमेयमिति सिद्धान्तः। ज्ञानं च यद्विषयं जायते तद्विषयामेव संविदं जनयति। सदा प्रत्यक्षा संवित् स्वेनैव प्रकाशत इति स्वतःप्रामाण्यं निरातङ्कमेव। संविज्जनकज्ञानस्य च स्वकार्येण संवेदनेन ज्ञप्तिरिति तत्रापि स्वतस्त्वमव्याहतम्। एतत् सर्वमवज्ञाय नन्दीश्वरो ज्ञानस्याननुमेयतां वितन्वानो बभ्रामेति प्रभाकरविजयग्रन्थे समाकलनीयम्। परतश्चाप्रामाण्यमङ्गीकुर्वतां भाट्टानां मतं प्रत्याचक्षाणः प्रभाकरानुयायी रामानुजाचार्यः स्थापयाञ्चकार---

यच्चोक्तं स्वारसिकं प्रामाण्यमन्यदापवादिकमिति तत्र स्वारसिकत्वं नाम किम्? ज्ञानस्वभावश्चेत् तर्हि स्मृतावतिप्रसङ्गः (स्मृतेरप्रमाणत्वादतिव्याप्तिरित्यर्थः)। अथ तद्व्यतिरिक्तज्ञानस्वभाव इति चेत् तर्हि आवयोरविवादः। द्वितीयेऽपि पक्षे कोऽपवादः? दोषश्चेत्, तस्य सहजशक्तिप्रतिबन्धकत्वमेव, न त्वप्रामाण्य-



निमित्तता। अथ संस्कारमात्रजत्वं चेत् तथैवाविवादः। वेदप्रामाण्यं  
त्वनपेक्षत्वादेव सिद्धम्, किं स्वतः परतो वेति प्रयासेन?

(तन्त्ररहस्यम्, पृ. 7)

एवं च नाप्रामाण्यं कुतश्चनाभ्युपयन्ति प्राभाकराः। भ्रमादिस्थलेषु  
ते ज्ञानद्वयं स्वीकुर्वन्ति। तत्र पुरःस्थितः पदार्थ इदन्तया गृह्यते, तत्तया  
च स्मृतिगोचरीभूतं हृद्टादिगतं रजतादिकं बुद्धिमारोहति। भेदे सत्यपि  
भेदाग्रह एवाख्यातिः। सैव च तादृशस्थलेषु ज्ञानद्वयस्याभेदग्रहे कारणम्।  
प्रत्यक्षस्मृत्योः संवित् तु प्रमाणमेव। कालभेदात् तयोरुत्पत्तेर्न परस्परं  
बाध्यबाधकभावः। असंसर्गाग्रहो भेदाग्रहो वात्र प्रभवति। यत्र क्षणे या  
संवित् सा तत्र स्वयंप्रभा प्रकाशत इति प्रामाण्यं सर्वत्राव्याहतमेवेति।

अथ स्वतःप्रामाण्यविषया मण्डनमिश्रोपज्ञ-मीमांसा

मीमांसकेषु मण्डनमिश्रस्य ब्रह्मसिद्धिमण्डितशेमुषीजुषः कश्चन  
पन्थाः प्रत्यग्रमेव स्वतस्त्वमनुरुन्धे। तन्मते ब्रह्मैव ज्ञानम्। ब्रह्म च  
नाप्रामाण्यमवगाहत इति क्वचिदौपाधिकं मायिकं वा प्रतिभासकल्पं  
ज्ञानं व्यावहारिकं नाम भवेदप्रमाणम्। तथा हि ---

व्यवहारे परोपाधौ सर्वा धीर्व्यावहारिकी।

अयथार्थी, यदा भावभेदकल्पस्तदा मुधा ॥

अयथार्थीधियो बीजमवश्यं बाह्यमेव न ।

दृष्टस्तिमिर-कामादिरान्तरोऽपि ह्युपप्लवः ॥

(ब्रह्मसिद्धिः 2/16-17)

व्यवहारो नाम परतत्त्वस्य ब्रह्मण उपाधिः। तस्मिन्नुपाधौ या काचन  
व्यावहारिकी बुद्धिर्जायते सा सर्वापि अयथार्थैव, परमात्मन एव  
परमार्थत्वात्। अतो यदा पदार्थानां भेदः कल्प्यते तदासौ भेदंपरा  
बुद्धिर्मुधैव भवति, विवर्तमात्रसारत्वेन तुच्छत्वात्। इत्थं खलु अयथार्था  
या बुद्धिस्तस्या बीजं मृग्यम्। तच्च शुक्तिरजतादिस्थलेषु बाह्यं  
चाकचक्यं भवति, रज्जुसर्पादौ वातकृतगतिप्रतीत्यादिकम्। परन्तु नैतावता

बाह्यमेव भ्रमकारणमिति मन्तव्यम्, क्वचिदक्षिदोषः, क्वचन गुडकटुतादौ पित्तदोषः, चित्रादौ कामिनीभ्रमे कामो दोष इत्यादि शारीरं मानसं च बीजं यथायथमूह्यम्।

इत्थं च पारमार्थिकं ब्रह्मणः स्वरूपं निर्विकल्पकं ज्ञानमेव प्रमाणम्। तत्र न क्वापि कोऽप्यप्रामाण्यशङ्कापङ्कलेशः, नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वरूपत्वात्। तत्र प्रामाण्यं ज्ञानस्वरूपान्नातिरिच्यत इति स्वतस्त्वं व्यवस्थितम्। तदपेक्ष्य मायिकं सोपाधिकं सविकल्पकं व्यावहारिकं ज्ञानमप्रमाणमेवेति न तस्य पारमार्थिकं प्रामाण्यं भवितुमर्हति किन्तु व्यवहारकाले तस्यापि स्वत एव प्रामाण्यम्, सोपाधिकत्वेऽपि मूलभूतज्ञानस्वरूपानतिरेकात्। व्यावहारिकमपेक्ष्य पुनः प्रातिभासिकज्ञानस्याप्रामाण्यम्, बाधोपलम्भात्, स्वत एव च प्रामाण्यम्, ज्ञानरूपोपपन्नत्वात् प्रवृत्तिनिवृत्तिदर्शनाच्च। प्राभाकराणां यन्मतं नायथार्थतां ज्ञानं जुषत इति तन्न वस्तुगत्या विचारसहम्। तथा हि ---

प्रवृत्तिभेदः सादृश्याद्, विवेकाग्रहणं यदि ।

अदृष्टेषु प्रवर्तते लोष्टादिष्वविवेकतः ॥

न तत्र यदि तद्बुद्धिः शुक्तिकाशकलेऽपि न ।

अथास्ति विपरीतार्था ख्यातिर्निहनूयते कथम् ॥

अदृष्टत्वादप्रवृत्तिः शुक्तिकाशकले समा ।

दृष्टं तद् येन रूपेण तत् प्रवृत्तेरकारणम् ॥

(तत्रैव 3/118-20)

अयमर्थः। प्राभाकराणामियं स्थितिः - विवेकाग्रहणं नाम शुक्तौ प्रत्यक्षायां स्मर्यमाणस्य रजतस्य भेदाग्रहः, सैव चाख्यातिरसंसर्गाग्रहो वा। सा चाख्यातिः सादृश्यमहिम्ना घटते। तथा च प्रवृत्तिभेदो जायते - शुक्तौ किल रजताय प्रवर्तते। नेदं मतं मण्डनाय रोचते। कुतः? यदि नामादृष्टे स्मर्यमाणे रजते प्रवर्तते तर्हि लोष्टादावपि प्रवर्तते, विवेकाग्रहस्य सामान्यात्। ननु लोष्टादौ रजतबुद्धेरभावान्न प्रवर्तत इति चेत् तर्हि शुक्तिकायामपि नास्ति रजतबुद्धिः, किं तर्हि, सादृश्यातिशयेन तत्र, तव मते, रजतं स्मारितमेव, प्रत्यक्षा तु शुक्तिरेव, प्रत्यक्षस्मरणयोर्भेदाग्रहेण



प्रवृत्तिरिति। अथोच्येत, शुक्तिकायां रजतबुद्धिर्भवतीति, हन्त तर्हि विपरीतख्यातिर्दुरपहनवा स्यात्, तथा च नैयायिकानां क्रोडे पातः। ननु लोष्टे न दृष्टं रजतमित्यत एव न प्रवृत्तिरिति चेन्न, तव मते शुक्तिकाशकलेऽपि रजतस्यादृष्टत्वात्, तत्र रजतस्मृतेः स्वीकारात्। शुक्तिरूपेण दृष्टमिति चेत्, तर्हि रजतार्था प्रवृत्तिः कुत इति।

ननु प्रकृते किमायातम्? इदमायातम् ..... ज्ञानं न जन्यम्। नित्यं ब्रह्मरूपं ज्ञानं स्वरूपत एव प्रामाण्यभाक्। व्यावहारिकमौपाधिकं ज्ञानमुपाध्यंशे स्वत एवाप्रमाणम्, मायिकत्वात्, स्वरूपांशे स्वतः प्रमाणम्, अतः प्रवृत्तिर्निर्बाधा। प्रातिभासिकमपि ज्ञानं स्वरूपांशे स्वतः प्रमाणं सदेव प्रवृत्तेः कारणम्, उपाध्यंशे चाप्रामाण्यं स्वत एव, व्यावहारिकेण बाधदर्शनात्। नोत्पत्तिर्ज्ञानस्य, स्वरूपसिद्धत्वात्, ततश्च प्रामाण्यं तत्स्वरूपमेव। ज्ञप्तिरपि प्रामाण्यस्य स्वतः, ज्ञानस्य स्वयंप्रकाशत्वात्।

+ + + + +

ज्ञानं स्वतः प्रमाणं किन्तु यत्र व्यभिचारो दृश्यते तत्र दोषं कारणीकृत्य परत एवाप्रामाण्यमिति कौमारिलाः। तन्नानुमन्यते मण्डनमिश्रः। तथा च तस्य कारिकां वाचस्पतिमिश्रा अवातीतरन्-

बोधादेव प्रमाणत्वमिति मीमांसकस्थितिम् ।

विदन्नव्यभिचारेण तां व्युदस्यत्यपण्डितः ॥

(विधिविवेकटीका, न्यायकणिका, पृ. 115)

दोषकृतेन व्यभिचारेण खल्वप्रामाण्यस्य ज्ञप्तिः, स एव व्यभिचारः प्रामाण्यस्यापवादः, अपवादाभावे ज्ञानस्य स्वतः प्रामाण्यमिति भाट्टाः। ते हि अव्यभिचारेण प्रामाण्यं स्थापयन्तः प्रकारान्तरेण परतस्त्वमेवाभ्युपयन्तीति तेषामपाण्डित्यम्। तदेव प्रतिपाद्य मण्डनाभिमतं स्थापयाम्बभूवुः ---

न च वस्तुतत्त्वमर्थस्यान्यदतः स्वरूपात्। तच्चास्य रूपमनुभवः स्वयमनुभवति, न पुनरव्यभिचाराद्यपेक्षते। तदिदमनुभवस्यार्थं स्वतःप्रामाण्यमुच्यते। यत् पुनरनुभूयमानाद् रूपार्थस्यान्यथात्वं, न तदनुभवत्यनुभवः, रजतविभ्रमेण तदन्यथात्वग्रहणे

रजतार्थिनस्तत्राप्रवृत्तेर्बाधिकानुपपत्तेश्च। ततश्च ज्ञानान्तरावसेय-  
मन्यथात्वम्। तेन तत्रान्यदपेक्षत इति तदस्य परत इत्युच्यते।  
यत् पुनरस्य तत्त्वावबोधरूपत्वं विज्ञानस्य तदपि तद्ग्राहिणः  
प्रत्ययान्तरान्मानसादानुमानिकाद् वावगम्यमानं स्वत इत्युच्यते,  
तत्स्वरूपग्राहिणः प्रत्ययात् प्रत्ययान्तरानपेक्षणात्।

(तत्रैव, पृ. 119)

तथा च स्वग्राहकज्ञानेतरज्ञानानपेक्षत्वं प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वम्,  
स्वग्राहकज्ञानेतरज्ञानापेक्षत्वमप्रामाण्यस्य परतस्त्वमिति फलितम्। तेन  
व्यावहारिकज्ञानस्य स्वतः प्रमात्वं प्रातिभासिकज्ञानस्य चाप्रमात्वं परत  
इति भावः। बाधकज्ञानस्य हि बाध्यज्ञानं प्रति ग्राहकज्ञानेतरत्वमिति।

अपि च---

बोधमात्रादेव प्रामाण्योपपत्तौ न तदभावोऽपेक्षणीयः। स च  
सत्यामाशङ्कायाम्। सा च यादृशे विषये दृष्टचरी तादृश  
एव, न सर्वत्रेत्यावेदितम्। तत् सिद्धं सर्वप्रमाणानां स्वतः  
प्रामाण्यम्, तदन्यानपेक्षणात्। यद् यतोऽन्यन्नापेक्षते तत् तस्य  
स्वत एव।

(तत्रैव)

इदं व्यावहारिकं ज्ञानमधिकृत्य व्यवस्थाप्यते। वस्तुतस्तु प्रातिभासिकं  
ज्ञानमपेक्ष्यैव व्यावहारिकस्य प्रामाण्यम्, अन्यथा त्वप्रामाण्यम्, तत्त्वज्ञानेन  
तद्बाधात्। प्रतिभासो व्यवहारेण बाध्यत इति यत्किंचिदेतत्। तत्त्वज्ञानं  
न केनापि बाध्यत इति तस्यैव प्रामाण्यं स्थितमिति हृदयम्। यावन्न  
बाध्यते, न वा शङ्कोदेति तावत् समेषां ज्ञानानां स्वत एव प्रामाण्यम्,  
तदन्यानपेक्षणात्।

इत्थं च ज्ञानोत्पत्तिरेव प्रामाण्योत्पत्तिरिति उत्पत्तौ स्वतस्त्वम्।  
उत्पत्त्या सहैव स्वतो ज्ञप्तिः, ज्ञानस्य स्वयंप्रकाशत्वात्। उत्पत्तिरपि  
व्यवहारोपाधिकस्यैव ज्ञानस्य, न स्वरूपतः, किं तर्हि, उपाधेरुत्पत्तेर्ज्ञाने  
समारोपादेव तथोच्यते। स्वरूपतो ज्ञानान्न प्रामाण्यं पृथक्,  
तस्यात्मरूपत्वादित्यवोचामेति संक्षेपः।



## वेदान्तेषु स्वतस्त्ववादाः

शाङ्करा अद्वैतवेदान्तिनस्तावद् व्यवहारे भाट्टनयमनुरुन्धते, रामानुजीया विशिष्टाद्वैतिनः प्रभाकरमीमांसामनुधावन्ति, तथापि वेदान्तवादमधिकृत्य लेशतस्ते मीमांसाभ्यां पार्थक्यमाश्रयन्ति। माध्वा द्वैतिनो वाल्लभाश्च शुद्धाद्वैतिनः सर्वात्मना स्वातन्त्र्यमवगाहन्ते। सर्वे स्व-स्वोत्पत्तिभिः स्वतस्त्वमेव प्रामाण्यस्य समुपस्थापयन्ति। तेषां मतानि यथासम्प्रदायं विवेच्यन्ते।

### अद्वैतवेदान्ते स्वतस्त्वम्

स्वतःप्रामाण्यं परतश्चाप्रामाण्यं विवरीतुमनाशिचत्सुखाचार्यः पुरस्तात् पूर्वपक्षमेव पुरश्चकार (तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 202-215)। ततश्च (पृ. 215-226) स्वाभिमतं सिद्धान्तयाम्बभूव।

प्रामाण्यस्योत्पत्तावनुपपत्ति - प्रमाणादेव प्रामाण्यस्योत्पत्तिर्न सम्भवति, स्वं प्रति स्वस्यैव कारणत्वानुपपत्ते। किं च ज्ञानं गुणत्वेन समवायिकारणं न भवतीति न प्रामाण्यं जनयितुमलम्। अथ स्मृतिभिन्नज्ञानस्य बाधात्यन्ताभावः प्रामाण्यमित्युच्येत, तर्हि न विकल्पसहम्। तथा हि अत्यन्ताभावत्वमुपाधिर्वा जातिर्वा? उपाधिश्चेत् तर्हि अजन्यनित्य-स्यात्यन्ताभावस्य का नामोत्पत्तिः? जातिश्चेत् तव मते स्यात् तदापि नित्यत्वमप्रतिहतमिति नोत्पत्तिः प्रामाण्यस्य घटते। अथोच्येत-ज्ञानजनकसामग्रीजन्यत्वं प्रमायाः स्वतःप्रामाण्यमिति, तर्हि तावदप्रमायां प्रामाण्यस्यातिप्रसङ्गः, तस्या अपि तत्सामग्रीजन्यत्वात्। इदं तावद् वक्तुं शक्यते- ज्ञानजनकसामग्रीमात्रजन्यत्वं प्रामाण्यमिति, तदपि न

विकल्पसहम्। मात्रशब्दयोजनेन दोषाभावसहकृतसामग्रीजन्यत्वं चेदभिप्रेयते तर्हि परतःप्रामाण्यमेव फलति। यदि च दोषासहकृतत्वं मात्रपदार्थस्तदापि न निस्तारः, परतस्त्वस्यैव भङ्ग्यन्तरेण स्वीकारात्। इत्थं प्रामाण्यस्योत्पत्तौ स्वतस्त्वमधिकृत्य न काप्युपपत्तिः शरणीस्यादिति।

ज्ञप्तावनुपपत्तिः - प्रामाण्यस्य ज्ञप्तौ स्वतस्त्वस्य कोऽर्थः? किमपि नाम संवेदनं स्वेनैव ज्ञाप्यं नैव भवति, ज्ञाप्यज्ञापकयोर्भेदस्य पक्षद्वयेनाभ्युपगमात्। ज्ञानग्राहकसामग्री प्रामाण्यं ज्ञापयतीत्यपि न विचारक्षमम्, संशयस्य प्रामाण्यापत्तेः। संशयो हि स्वग्राहकेणैव गृह्यत इति। अन्यनिरपेक्षोत्पत्तिकत्वेन हेतुना स्वतः प्रामाण्यस्योत्पत्तिं साधयन्तो ज्ञानवदेव तज्ज्ञप्तिमपि स्वतस्त्वेन योजयन्ति, तत् तु परतस्त्ववादिना न स्वीक्रियत इत्यसिद्धो हेतुः, प्रमासामान्यं पक्षीकृत्य साधयतामप्रमैव दृष्टान्तः स्यादिति। ननु प्रामाण्यस्य ज्ञप्तिः स्वतः, अप्रामाण्येतरत्वविशिष्टत्वे सति ज्ञानैकधर्मत्वादित्युन्मानेन ज्ञप्तेः स्वतस्त्वं साध्यत इति चेन्न, हेतोः सव्यभिचारत्वात्। प्राभाकराणं स्वयंप्रभत्वं कौमारिलानां च ज्ञाततानुमेयत्वमपि हि अप्रामाण्येतरो ज्ञानैकधर्मः।

ज्ञप्तिपरतस्त्वे चानुमानं न्यायकुसुमाञ्जलावाह स्म चोदयनः -

“प्रामाण्यं परतो ज्ञायते, अनभ्यासदशायां सांशयिकत्वाद-  
प्रामाण्यवत्”।

(तत्त्वप्रदीपिका, पृ. 211)

+ + + + +

न च स्फुरत एव मानस्यार्थनिश्चायकत्वम्, अन्यथा ज्ञानेऽप्यनन्तरं सन्देहापत्तेरिति वाच्यम्। ज्ञाततयानुमेयं ज्ञानमिति मते निलीनस्यापि (परोक्षस्यापि) ज्ञानस्यार्थनिश्चायकत्वात्। स्वयं वेदनं संवेदनमिति वदतः प्राभाकरस्यापि मते तद्धर्मस्य (प्रामाण्यस्य) तद्गतगुणत्वादेरिव न स्वतः स्फुरणम्, तस्यापि संवेदनवत् स्वयंप्रभत्वापत्तेः। तथात्वे चाप्रमात्वस्यापि स्वत एव



स्फुरणप्रसङ्गात्। ततश्चाप्रामाण्यं परतः प्रतीयत इति  
स्वसिद्धान्तभङ्गप्रसङ्गः। (तत्रैव, पृ. 214-15)

+ + + + +

वेदान्तिनां प्रामाण्यस्य साक्षिवेद्यत्वेन स्फुरणनियमादिदं प्रमाणम-  
प्रमाणं वेति सन्देहो न भवेत्। न च प्रमाणं स्वत एव फलं  
जनयति, हानोपादानोपेक्षालक्षणस्य त्रिविधस्यापि फलस्य  
वस्तुज्ञानातिरिक्तगुणदोषमाध्यस्थ्यदर्शनपूर्वकत्वाभ्युपगमात्। तस्माद्  
वेदान्ताः स्वत एव प्रमाणमिति न प्रामाणिकप्रतीतिपथमवतरति।  
(तत्रैव, पृ. 215)

+ + + + +

अथ वेदान्तिनामुत्तरपक्षः - वेदान्तेषु साक्षिभास्यमपरोक्षज्ञानं प्रामाण्यस्य  
व्यतिष्ठते। तदनुसृत्यैव वेदान्तवाक्यानां स्वतः प्रामाण्यं स्थाप्यते,  
वेदान्तीयवाक्यार्थानामपरोक्षानुभूतिर्न चेत्स्वतः प्रमाणं भवेत् तर्हि समस्ते  
शास्त्रे संशयो जायेत। प्रामाण्यस्य साक्षिभास्यतायां च व्यावहारिकज्ञाने  
संशयोऽनुपपन्नः। तथा चोभयतः पाशा रज्जुः। उत्तरयन्नाह चित्सुखाचार्यः---

उत्पत्तौ- आहुर्विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यजन्यता।

तदन्यतः प्रमायास्तत् स्वतस्त्वमिति तद्विदः ॥ (तत्रैव)

विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति तदन्याजन्यत्वं प्रमायाः स्वतस्त्वमिति न  
क्वचित् काचिदनुपपत्तिः। अपि चानुमानवाक्यम्-

प्रमा विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति नान्यतः ।

जायते व्यतिरिक्तत्वादप्रमातः पटादिवत् ॥ (तत्रैव, पृ. 216)

प्रमा विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति नान्यतो जन्या भवतीति प्रतिज्ञा,  
अप्रमातो व्यतिरिक्तत्वादिति हेतुः, पटादिवदित्युदाहरणम्।

एतेन प्रमा विज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीना कार्यत्वात् पटवदिति  
योऽयमुदयनस्य परतस्त्वेऽपि प्रयोगः सोऽपि परास्तः, प्रमा

दोषव्यतिरिक्तज्ञानहेत्वतिरिक्तजन्या न भवति ज्ञानत्वादप्रमावदिति  
प्रतिसाधनग्रस्तत्वात्। (पृ. 216-17)

ज्ञप्तावपि-तथा प्रमाज्ञप्तिरपि विज्ञानज्ञापकसामग्रीत एव। न  
च तथात्वे विज्ञान इव प्रमाणमप्रमाणं वेति  
संशयानुदयप्रसङ्गः, स्वतः प्रमाणत्वेन भवदभिमत-  
धर्मिज्ञानेऽनुव्यवसाये च स्फुरत्यपि सुगतमतानुसा-  
रिणामप्रमाणमेवेति विपर्ययदर्शनात्। स्वतःप्रमाणत्वेन  
भवदङ्गीकृतानुमित्यादावपि ज्ञायमानायां चार्वाकस्य  
प्रामाण्ये विप्रतिपत्त्युपलब्धेः। ..... न च  
ज्ञानज्ञापकादेव प्रामाण्यग्रहणे मिथ्या-रजतादिबुद्धिषु  
प्रामाण्यग्रहणप्रसङ्गः, प्राक्तनस्यापि प्रामाण्यग्रहणस्य  
कारणदोषावगमबाधबोधाभ्यामपनयात्। न च  
ताभ्यामपनये तयोरभावज्ञानस्य प्रामाण्यग्रहणहेतुत्वोपपत्तौ  
परतःप्रामाण्यापत्तिरिति वाच्यम्, दोषबाधबोध-  
योरनुदयमात्रेण प्रामाण्यस्फुरणोररीकरणात्।

(तत्रैव, पृ. 218-19)

अत्रेदमवधेयम्। अद्वैतवेदान्तिनो भाट्टमीमांसाकाश्चात्र विषये प्रायेण  
संवादभाजः। ज्ञानजनकसामग्रीजन्यत्वमुत्पत्तौ, ज्ञानज्ञापकसामग्रीज्ञाप्यत्वं  
च ज्ञप्तौ स्वतस्त्वमित्युभये मन्यन्ते। परन्तु सामग्री भिद्यते। तथा हि  
भाट्टानां प्रस्थाने इन्द्रियादिज्ञानजनिका सामग्री ज्ञातता च ज्ञानज्ञापिका।  
अद्वैतिनां तु साक्षिचैतन्यमेव प्रमाणमिति तत एवोत्पत्तेर्ज्ञप्तेश्च स्वतस्त्वम्।  
अध्वरीन्द्रो धर्मराजः संक्षेपेण वेदान्तमतमुपस्थापयाम्बभूव -

क. प्रमाणानां प्रामाण्यं स्वत एवोत्पद्यते ज्ञायते च। तथा हि  
स्मृत्यनुभवसाधारणं संवादिप्रवृत्त्यनुकूलं तद्वति तत्प्रकारकज्ञानत्वं  
प्रामाण्यम्। तच्च ज्ञानसामान्यसामग्रीप्रयोज्यम्, न त्वधिकं  
गुणमपेक्षते, प्रमामात्रेऽनुगतगुणाभावात्। नापि प्रत्यक्षप्रमायां  
भूयोवयवेन्द्रियसन्निकर्षः (गुणः), रूपादिप्रत्यक्ष आत्मप्रत्यक्षे  
च तदभावात्। सत्यपि तस्मिन् पीतः शङ्ख इति



प्रत्ययस्य भ्रमत्वाच्च। अत एव न सल्लिङ्ग-  
परामर्शादिकमप्यनुमित्यादिप्रमायां गुणः, असल्लिङ्ग-  
परामर्शादिस्थलेऽपि विषयाबाधेनानुमित्यादेः प्रमात्वम्।

(वेदान्तपरिभाषा, पृ. 291-92)

ख. न चैवमप्रमापि प्रमा स्यात्, ज्ञानसामग्र्या अविशेषादिति  
वाच्यम्, दोषाभावस्यापि हेतुत्वाङ्गीकारात्। न चैवं  
परतस्त्वमिति वाच्यम्, आगन्तुक-भावकारणापेक्षायामेव  
परतस्त्वात्। (तत्रैव, पृ. 295)

ग. ज्ञायते च प्रामाण्यं स्वतः। स्वतो ग्राह्यत्वं च दोषाभावे  
सति यावत्स्वाश्रयग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वम्। स्वाश्रयो वृत्तिज्ञानम्।  
तद्ग्राहकं साक्षिज्ञानम्। तेनापि वृत्तिज्ञाने गृह्यमाणे तद्गतं  
प्रामाण्यं गृह्यते। (तत्रैव, पृ. 297)

घ. न चैवं प्रामाण्यसंशयानुपपत्तिः, तत्र संशयानुरोधेन दोषस्यापि  
सत्त्वेन दोषाभावघटितस्वाश्रयग्राहकाभावेन तत्र  
प्रामाण्यस्यैवाग्रहात्। यद्वा स्वाश्रयग्राहकग्राह्यत्वयोग्यत्वं  
स्वतस्त्वम्। संशयस्थले प्रामाण्यस्योक्तयोग्यतासत्त्वेऽपि  
दोषवशेनाग्रहान्न संशयानुपपत्तिः। (तत्रैव पृ. 298)

ङ. अप्रामाण्यं तु न ज्ञानसामान्यसामग्रीप्रयोज्यम्, प्रमायामप्य-  
प्रामाण्यापत्तेः, किन्तु दोषप्रयोज्यम्। नाप्यप्रामाण्यं  
यावत्स्वाश्रयग्राहकग्राह्यम्, अप्रामाण्यघटकतदभाववत्त्वा-  
देर्वृत्तिज्ञानानुपनीतत्वेन साक्षिणा ग्रहीतुमशक्यत्वात्। किन्तु  
विसंवादिप्रवृत्त्योदिलिङ्गकानुमित्यादिविषय इति परत  
एवाप्रामाण्यमुत्पद्यते ज्ञायते चेति। (तत्रैव पृ. 300)

इत्थं च प्रामाण्यं साक्षिणा साक्षाद् गृह्यत इति तस्य स्वतस्त्वम्।  
अप्रामाण्यं पुनर्दोषबाध-विसंवाद-विशङ्कटत्वेन साक्षान्न गृह्यते किन्तु  
अनुमानव्यवधानेन गृह्यत इति परतस्त्वम्।

## विशिष्टाद्वैतवेदान्ते स्वतस्त्वम् -

अत्रापि साक्षिणैव प्रामाण्यं गृह्यत इति स्वतः प्रामाण्यम्।  
सत्ख्यातिमाश्रयतां रामानुजीयानां मते सर्वं ज्ञानं विषयांशे प्रमाणमेव।  
यामुनाचार्यः पूर्वमेवाह स्म -

अर्थसंविदां च साक्षात्कारी चेतन इति सोऽपि न ताभिरपरोक्षीभवति।  
(सिद्धित्रयम्, पृ. 62)

अयं भावः। यः साक्षी खल्वात्मा स एव साक्षात्करोति विषयान्  
तद्विषयिणीः संविदश्च, स्वयं चापि संविदामपरोक्षः सन् संवेद्यते। इत्थं  
च साक्षिग्राह्यत्वेन सर्वसंविदां स्वतः प्रामाण्यं स्थितम्। तदेवाह  
रामानुजाचार्यः---

नानुभूतिरनुमीयते। नापि ज्ञानान्तरसिद्धा। अपि तु सर्वं  
साधयन्त्यनुभूतिः स्वयमेव सिध्यति। .....अनुभूतिरात्मनः  
प्रकाशमानत्वे प्रकाशत इति व्यवहारे च स्वयमेव हेतुः। सेयं  
स्वयंप्रकाशानुभूतिर्नित्या च .....अस्याः प्रागभावाद्यभावादुत्पत्तिर्न  
शक्यते वक्तुमिति। (श्रीभाष्यम् 1/1/1)

ज्ञानस्य ज्ञाततानुमेयत्वमनुव्यवसायप्रत्यक्षत्वं चेह नाङ्गीक्रियते।  
भट्टपराराशरपादमुल्लिखन् वेदान्तदेशिकः प्राह ---

धियः प्रत्यक्षभावत्वात् परतस्तदसम्भवात् ।

पारिशेष्यात् स्वतो भानं प्रमाणाच्च ततस्ततः ॥

प्रतीतेर्व्याहरणतः सन्देहपरिवर्जनात् ।

सत्तायां सिद्धवत्काराज्ञानं भातीति भावितम् ॥

परस्यादर्शनाद् व्याप्तादन्वयव्यतिरेकितः ।

अर्थापत्तेश्च युक्तेश्च वचनाच्च स्वदृङ् मतिः ॥

(न्यायसिद्धाञ्जनम्, पृ. 503)

द्वादशतय्या ज्ञानस्य स्वतः प्रामाण्यं सिध्यति - 1. ज्ञानं  
प्रत्यक्षरूपं भावरूपं च भवति, अतो न ज्ञाततयानुमेयम्, अपरोक्षस्वरूपत्वात्,  
2. अनुव्यवसायादपि ज्ञानस्य सिद्धिर्न सम्भवति, ज्ञानान्तरेण पूर्वज्ञानस्य



सत्तायाः प्रमाणयितुमशक्यत्वात्, 3. तथा च परिशेषानुमानेन स्वयं ज्ञप्तिज्ञानस्य सिध्यति, 4. प्रकाशत्वात् प्रकाशस्यैव ज्ञानत्वादेव ज्ञानस्य स्वयंप्रकाशत्वम् 5. अर्थं विषयीकुर्वदेव ज्ञानमव्यवधानेन प्रतीतिमवतरति, 6. जानन्नेव ज्ञाता वदति विषयं जानामीति, 7. अहं जानामि न वा जानामीति संशयो नोदेति, 8. धारावाहिकज्ञाने ज्ञानं सिद्धवद् भासते, तदन्तराले ज्ञातताया अनुव्यवसायस्य वानुप्रवेशो न प्रतीयते, 9. स्वप्रयोज्यव्यवहारं प्रति संवित् स्वयं कारणतां भजमाना, न सजातीयमपेक्षते। संविदन्यनिरपेक्षा, अजडत्वादात्मवत्, जडाः पदार्था अन्यापेक्षाः, घटवत्, इत्यन्वयव्यतिरेकिणा संविदः स्वतस्त्वं साध्यते, 10. उपनिषद्वचनानि (बृहदारण्यक, 4/3/9-14 प्रभृतीनि) आत्मानं स्वयंप्रकाशं ब्रुवते। परतस्त्वसाधने हेतुरागमबाधितः स्यात् 11. स्वप्रकाशत्वं विना ज्ञानमेव नोपपद्यते, येन हि ज्ञानान्तरेण पूर्वज्ञानं प्रकाशयेत्। तत् पुनः स्वयंप्रकाशमेव स्यात्, अन्यथानवस्थापातः, 12. अनवस्थापत्तियुक्त्यापि परप्रकाशयत्वं ज्ञानस्य न विचारसहमिति।

न्यायादिमतं पराकृत्य मेघनादसूरिः सिद्धान्तयामास येन विशिष्टाद्वैताभिमतं स्वतःप्रामाण्यं विशदं चकास्ति ---

क. अनवस्थापरिहाराय कस्यचित् स्वतस्त्वाङ्गीकारे च न परतः प्रामाण्यम्। ..... शुक्तिकारजतादावपि यथाकथञ्चित् प्रामाण्याधीनैव प्रवृत्तिः। (नयद्युमणिः, पृ. 33)

ख. ज्ञानस्यापि शङ्काप्रस्तत्वेनानवस्थापातात्। न च जिज्ञासाया उत्पत्तेः शङ्कामूलत्वात् तत्सम्भव इति वाच्यम्, सर्वत्र जिज्ञासानुदयात् ..... अन्यथा न कदाचिद् व्यवहारसिद्धिः। (तत्रैव, पृ. 35)

ग. अतः स्वतः प्रामाण्यम्। प्रमाणान्तरसापेक्षत्वे चाप्रामाण्यम्। अनुभूतिर्हि नः प्रमाणम्। प्रामाण्यं च प्रमाणान्तरानपेक्षार्थावच्छिन्नत्वम्। तच्चानुभूतिसत्तयैव प्रकाशते, घटानुभूतिरिति स्फुरणात्। स्मृतिज्ञानस्य स्वसत्तयैव स्फुरणेऽपि परवेद्यतोल्लेखितार्थावच्छिन्नत्वेन प्रमाणान्तरापेक्षत्वान्न तत्र व्यभिचारः। (तत्रैव, पृ. 35)

घ. अप्रामाण्यं परत इति प्रामाण्यकार्यव्यवहारहेतुत्वाभावो ज्ञायत इत्यर्थः। ननु स्मृत्यापि व्यवहारो दृश्यते, पूर्वद्युर्वने फलं प्रत्यक्षतो दृष्ट्वा परेद्युस्तत्स्मरणात्तदाहरणप्रवृत्तेरिति (चेन्न). तत्र स्मृतिद्वारा पूर्वानुभूतेरेव प्रवृत्तिहेतुत्वदर्शनात्। अप्रामाण्यं व्यवहाराननुकूलत्वं वाऽस्तु। तज्ज्ञानं बाधकादिज्ञानात्। अतः प्रामाण्यकार्यव्यवहाराहेतुत्वादप्रामाण्यम्। (तत्रैव, पृ. 36-37)

ङ. पौरुषेयवाक्यानि तावन्न स्वार्थे प्रमाणम्। किन्त्वभिप्रायानुसारित्वेनैव प्रतीतिहेतुत्वान्निर्गङ्गरूपेण पश्चात् प्रमाणम्। अतोऽनुमानस्यैव व्यभिचारांशता, न शब्दस्य। अतोऽर्थः संस्पृष्ट एव। (तत्रैव, पृ. 38)

शब्दानामर्थप्रत्यायकत्वं स्वाभाविकमेव। ..... एवं निश्चितशक्तेः शब्दस्य नरप्रयुक्तत्वनिबन्धना शङ्का च नापौरुषेये वेद इत्यर्थः। संस्पृष्ट इति नाथसिंस्पर्शित्वरूपमप्रामाण्यम्। (तत्रैव, पृ. 39)

शब्दस्यार्थस्पर्शित्वरूपं प्रामाण्यं स्वतः किन्तु लोके व्यभिचारदर्शनेन खल्वनाप्तोक्तत्वरूपमप्रामाण्यमानुमानिकमित्याशयः। न हि शब्दोऽर्थस्पर्शं व्यभिचरतीति शब्दप्रमाणांशे प्रामाण्यमेवेति यावत् ॥

+ + + + +

द्वैतवेदान्ते स्वतस्त्वम्

माध्वा अपि साक्षिचैतन्यमुपाश्रित्य स्वतः प्रामाण्यं व्यवस्थापयन्ति। तथा ह्यानन्दतीर्थः ---

प्रामाण्यज्ञाने च (प्रमाणान्तराभावः)।

(दश प्रकरणानि, भागः 1, पृ. 235)

तत्राप्यङ्गीकारेऽनवस्थितेः ।

(तत्रैव)



तदिदं व्याचख्यौ जयतीर्थः ---

साक्षिणोऽप्रामाण्ये सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमप्रामाणिकं स्यात्।  
प्रामाण्यज्ञानार्थं प्रमाणान्तराभावात्। ..... यदि प्रामाण्यज्ञानार्थं  
सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणमङ्गीक्रियते तर्हि तत्प्रामाण्यं प्रामाणिकं  
न वा? नेति पक्षे न स्यात् (प्रामाण्यं पूर्वज्ञानस्य न सिध्येत्)।  
आद्ये किं स्वेनैव सिद्धं प्रमाणान्तरेण वा? नाद्यः अन्यत्रापि  
(पूर्वज्ञानेऽपि) तत्प्रसङ्गात्। द्वितीये तस्यापि प्रामाण्यं  
प्रमाणान्तरवेद्यतित्यनवस्थितिः स्यात्। तस्मात् साक्षिज्ञानेनैव  
सर्वप्रमाणप्रामाण्यं ज्ञायत इत्यङ्गीकार्यम्। तस्य च स्वप्रकाशत्वेन  
स्वप्रामाण्यविषय-त्वान्नानवस्था। इदमहं जानामीत्यात्मनः  
स्वप्रकाशत्वदर्शनात्। साक्षिणश्चात्मत्वादिति। (तत्रैव, जयतीर्थः)

स्मृतिरपीह दर्शने प्रमाणम्, तस्या मानसप्रत्यक्षरूपत्वादित्याह ---

स्मृतेश्च प्रामाण्यानङ्गीकारेऽनुभूतं मयेत्यत्र प्रमाणाभावात्।  
(तत्रैवानन्दतीर्थः, पृ. 238)

यदि स्मृतिर्न प्रमाणं तर्हि अनुभूतमप्रामाणिकं स्यात्, अनुभूतं  
मयेत्यत्र स्मृतिं विना प्रमाणाभावात्। (तत्रैव, जयतीर्थः)

न च प्रत्यक्षसिद्धमन्येन केनापि बाध्यं दृष्टम्।  
(तत्रैवानन्दतीर्थः, पृ. 589)

सर्पभ्रमादेरपि बलवता प्रत्यक्षेणैव विषयापहारः, नानुमानागमाभ्याम्।  
.....प्रत्यक्षं तु परीक्षितमपरीक्षितस्य बाधकम्। (जयतीर्थः)

लौकिकज्ञानस्य प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा स्वतः साक्षिप्रत्यक्षेणोत्पत्तिं ज्ञप्तिं  
च लभते। व्यभिचारि ज्ञानं तु मानसकल्पनामात्रम्। तदेवाह द्वैतद्युमणिकार  
उद्धरणमुखेन ---

सुदृढो निर्णयो यत्र ज्ञेयं तत् साक्षिदर्शनम् ।  
यत् किञ्चिद् व्यभिचारि स्याद् दर्शनं मानसं हि तत् ॥  
(तत्रैव, पृ. 50 द्वैतद्युमणिः)

न चैवं सति अनुमित्यागमजादिप्रामाण्यस्य स्वतस्त्वभङ्गप्रसङ्गः,  
अपरिचितविषयेषु अनुभवबलाद् दोषबुद्धिप्रयुक्त- सन्देहनिवृत्तेर-  
नुमितिस्थल आगमस्थले विलम्बितत्वस्वीकारेऽपि स्वतः-  
प्रामाण्यग्रहणापरित्यागात्। किं च साक्षिणः प्रत्यक्षरूपस्य निश्चित-  
प्रमाणभावस्याप्रामाण्यसन्देहं प्रति कदाप्यगोचरतया स्वभावप्राबल्यात्  
तज्जातीयबाह्यप्रत्यक्षेष्वपि तत् सिध्यति। असति बाधके प्रमाणानां  
सामान्यत एव प्रवृत्तेः। (तत्रैव, पृ. 502 द्वैतद्युमणिः)

इदमत्राकूतम्। साक्षिणः सदा प्रत्यक्षत्वेन सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यं स्वतो  
व्यवस्थितम्। तेनैव साक्षिप्रत्यक्षेण पूर्वज्ञानस्य बाधोऽपि भवतीत्यप्रामाण्यस्यापि  
स्वतस्त्वम्। उभयत्र साक्षिप्रत्यक्षेतरत् प्रमाणं नापेक्ष्यत इति प्रामाण्याप्रामाण्ययोः  
स्वतस्त्वं निर्बाधम्। स्मृतिरपि स्वतः प्रमाणम्, तस्याः प्रत्यक्षविशेषत्वादिति।

+ + + + +

### दाक्षिणात्यशैवदर्शने स्वतस्त्वम्

इह दर्शने चिच्छक्तिः प्रमाणत्वेन स्थाप्यते। सा च वेदान्तस्य  
साक्षिणः स्थाने स्थापिता प्रतीयते। स्वतः प्रामाण्यं परतश्चाप्रामाण्यमभ्युपेयते।  
प्रामाण्यं स्वत एव गृह्यत उत्पद्यते च ।

(शैवपरिभाषा, पृ. 25)

क. स्वतो ग्राह्यत्वं नाम बाधानवतारकालीनयावत्स्वा-  
श्रयग्राहकग्राह्यत्वम्। अत्र च प्रमाणं सामग्र्येव। ज्ञानग्राहकेण  
हि ज्ञानं विषयावच्छिन्नं गृह्यते। विषयश्च विशेषणविशेष्यवत्  
तत्सम्बन्धोऽपि। अत एव घटमेव घटतया जानामीत्यनु-  
व्यवसायो दृश्यते। (तत्रैव)

न चैवं प्रामाण्ये संशयो न स्यात्, निश्चिते तदयोगादिति  
वाच्यम्। निश्चितेऽप्यर्थे ज्ञानस्य दोषजन्यत्वसंशयेन



संशयोपपत्तेः। अन्यथा परतस्त्ववादिनोऽपि प्रामाण्यसंशयो न स्यात्। अर्थतथात्वस्यानुव्यवसायेनानिश्चयेऽपि व्यवसायेन निश्चयात्, प्रामाण्यसंशयस्य च तत्संशयपर्यवसन्नत्वात्। अन्यथा सुनिश्चितेऽप्यर्थे प्रामाण्यसंशयापत्तेः। (पृ. 25-26)

ख. उत्पत्तौ स्वतस्त्वं च यावत्स्वाश्रयजनकसामग्रीजन्यत्वम्। ज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति तदतिरिक्तहेत्वजन्यत्वं प्रमायाः स्वतस्त्वमिति। (पृ. 26)

अस्ति चात्रानुमानम्। विमता प्रमा ज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति तदतिरिक्तजन्या न भवति, अप्रमात्वानधिकरणत्वाद् घटवदिति। (तत्रैव)

ग. अप्रमा तु परत एवोत्पद्यते ज्ञायते च, तस्या ज्ञानसामग्रीव्यतिरिक्तस्य दोषस्योत्पत्तौ हेतुत्वात्। ज्ञप्तौ च ज्ञानग्राहक-सामग्र्यतिरिक्तस्य मानान्तरस्य ग्राहकत्वसम्भवात्। (तत्रैव)

इदं प्रस्थानं भाट्टमीमांसकानां मतमनुरुन्धानमत्र सन्दर्भे तदभिमतान्यथाख्यातिं स्थापयतीति दिक्।

+ + + + +

## व्याकरणदर्शने स्वतस्त्वम्

प्रामाण्यवादिषु वैयाकरणा बुद्धिसत्कार्यवादिनो बुद्धिसत्ख्यातिवादिनश्च सन्तः सर्वथातिशोरेते। बुद्धिसदेव वस्तु बहिः प्रकाशत इति भ्रमेऽपि बौद्धं प्रामाण्यमेवेष्ट्यते। न हि बुद्ध्यावसद् रजतादिकं शुक्तिकाशकलादौ प्रतिभासेत। यच्च बाह्यं जगत् तदपि बुद्धिसदेव बहिः प्रकाशमानं व्यवहारपदं गाहते। बुद्धिस्थस्य सतो वस्तुनः क्वचिद् बाह्यार्थेन संवादः क्वचिच्च विसंवादः। विसंवादमवेत्य ज्ञानमिदमप्रमाणमिति व्यवहरन्ति। बुद्धिसत् तु तदपि प्रमाणमेव। बुद्धौ वस्तुनो ज्ञानं तत्प्रामाण्यं च स्वत

एव जायते ज्ञायते चेति कुतः परद्वस्वतम्?

यद्यपि 'लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे' इति सूत्रे (पासू 3/2/124) भाष्ये प्रदीपे च क्वचित् प्रत्यक्षापेक्षयानुमानस्य बलीयस्त्वं प्रतिपादितम्, यथा प्रत्यक्षतो दृष्टस्यालातचक्रस्यानुमानेन बाध इति, तथापि न तेनाप्रामाण्यस्य परतस्त्वं निरूपितं भवेत्। वस्तुतो बुद्धिस्थचक्रस्य बुद्धावेव प्रतिपत्तिरिति मूलज्ञानस्याप्रमात्वं नाभिप्रेयते। बाह्यार्थविसंवादेन बाह्यार्थ एवारोपितस्य ज्ञानस्याप्रामाण्यं निश्चीयते, नासौ बौद्धप्रत्यक्षस्य वस्तुस्थितिः। तदाह भगवान् भर्तृहरिः -

स्पर्शप्रबन्धो हस्तेन यथा चक्रस्य सन्ततः ।

न तथालातचक्रस्य विच्छिन्नं स्पृश्यते हि तत् ॥

(वाप 2/291)

बुद्धिस्थचक्रालातचक्रयोर्नान्तरम्। अत एव क्रियास्वरूपं निरूपयन् स एव भगवानाह ---

यथा गौरिति संघातः सर्वो नेन्द्रियगोचरः ।

भागशस्तूपलब्धस्य बुद्धौ रूपं निरूप्यते ॥

इन्द्रियैरन्यथाप्राप्तौ भेदांशोपनिपातिभिः ।

अलातचक्रवद् रूपं क्रियाणां परिकल्प्यते ॥

(वाप 3/8/7-8)

तात्पर्यतः क्रियासमूहस्यैकत्वप्रतिपत्तिर्भ्रम एव। न हि तद्भेदाः सर्व इन्द्रियैर्योगेपद्येन गृह्यन्ते, यौगपद्याभिमानस्तु भवत्येव। प्रत्यक्षेऽपि नावयवी सकृद् दृक्पातेन गृह्यते किन्तु तज्ज्ञानाभिमानेन व्यवहारः प्रचलति। तत्र स्वत एव सांख्यवहारिकस्य ज्ञानस्य प्रामाण्यमवधार्यते, अन्यथा ह्यप्रामाण्यं केन वार्येत? तथा हि नागेशभट्टा विवबुः ---

वस्तुतो बाधज्ञानं न क्वापि ज्ञाने प्रतिबन्धकम्। तत्कोलेऽपि हि सत्यां सामग्र्यां जायत एव ज्ञानम्। तत्र स्वसामग्रीवशाद् द्वयोरपि ज्ञानयोजितयोर्यत्र ज्ञाने सदोपसामग्रीजन्यत्वग्रहस्तत्राप्रामाण्यग्रह इत्येव मर्यादा ज्यायसी। यथा गेहे घटोऽस्ति, गेहे घटो नास्तीति परस्परविरुद्धे द्वाभ्यां प्रयुक्ते। किं चाशुसञ्चारादलातचक्रं



प्रत्यक्षेण दृश्यते, अनेकदिक्कस्य रूपसहचारिणः स्पर्शस्य युगपदग्रहणाद्धेतोरनुमानाद् गम्यते नैतदस्तीति। अनन्यथा- सिद्धानुमानाच्च तदभावज्ञाने तेन पूर्वज्ञानस्य भ्रमत्वं कल्प्यत इति लटः शत्रिति सूत्रे भाष्यकैयटयोरुक्तम्। एवं च बाधज्ञानकालेऽप्यनुमितिः स्वीकृता। अत्र दृश्ये गम्यत इति वर्तमाननिर्देशाभ्या- मुभयोरेककालिकता सूचिता। अनेकदिक्कस्पर्शस्य युगपदग्रहण- रूपहेतोर्भ्रम इत्येव तस्मिन् सम्भावच्च। प्रत्यक्षस्य प्रबलत्वे त्वनुमितौ भ्रमत्वकल्पनम्। एवं च बाधस्य हेत्वाभासत्वमप्युपपन्नम्, अनुमितौ तेनाप्रामाण्यस्य जननात्। (लघुमञ्जूषा, पृ. 515-16)

बुद्धिसतो विषयस्य ज्ञानं न परतः प्रामाण्यमर्हति, तदुत्पत्तेर्ज्ञप्तेश्च स्वेतरानपेक्षत्वात्। मरीचिकास्वापि बुद्धिसदेव जलं भासत इति बुद्धिसत्त्वेन तत्प्रामाण्यमव्याहृतमेव। बहिष्त्वेन यदा दोषज्ञानं जायते तदा सदोषज्ञानसामग्रीजन्यत्वं ज्ञानस्य ज्ञप्तिमवतरतीति तत्र परत एवाप्रामाण्यं गृह्यते, बुद्धिसज्ज्ञानसामग्रीतरदोषादिसामग्रीज्ञानग्राह्यत्वात्। तथा चोत्पत्तौ परतस्त्वमपि सङ्गच्छते, बाधकसामग्रीजन्यत्वादप्रामाण्यस्येति। बुद्धिसत्ता तु सर्वविषयाणामवतिष्ठते। तेन बहिःसत्ता च न प्रयोजिके प्रामाण्याप्रामाण्ययोः। अत एवाहुर्वाक्यपदीयकाराः---

बुद्धौ स्थितेषु तेष्वेवमध्यारोपो न दुर्लभः ।

परधर्मस्य, न ह्यत्र सदसत्त्वं प्रयोजकम् ॥ (वाप 3/11/10)

अत्र हेलाराजो व्याचख्यौ -

अत्यन्ताविद्यमानेऽपि हि बहिरर्थे बुद्ध्या समावेशो दृश्यते, यथा समुद्रः कुण्डिकेति। कथंचिद् बहिः सत्त्वे धर्ममात्रारोपो न विरुध्यते।

अपि च -

बुद्धिशब्दौ प्रवर्तते यथाभूतेषु वस्तुषु ।

तेषामन्येन तत्त्वेन व्यवहारो न विद्यते ॥ (वाप 3/7/110)

बुद्धिशब्दविषयभावातिरेकेण व्यवहारे वस्तूना बाह्या सत्ता न काचन विद्यते। .... नास्तीति प्रत्यये बहिरसन्नपि पदार्थो नियतदेशकालयोर्निषिध्यमानः ..... कार्योन्मुखतायामनागतमपि वस्तु तज्जातीयानुभववासनया बुद्धावभिमुखीभवत् समर्थहेतु-वशाज्जायत इति जन्मनः कर्तृत्वेनाभिधीयते। (हेलाराजः)

इत्थं च भ्रमोऽपि बुद्धिस्थ-वस्तुस्वरूपालम्बनेन प्रमैव। बाह्यस्वरूपालम्बनेन त्वप्रमेति व्यवहियते। तथा च नागेशपादाः---

भ्रमे ज्ञानाकारस्यैव विषय आरोप इति सिद्धान्तात्। सन्निकृष्टं ज्ञानाकारं विषयासन्निकृष्टदूरस्थ-रजताद्यारोपे मानाभावात्, बाधानुभवस्यानुपपत्तेश्च। चाकचकयादिविषयदोषवशाच्च चित्तवृत्तेस्तथा परिणामः। (लमं, पृ. 211)

भ्रमे यावद्विशेषदर्शनं बहिःसत्त्वेन प्रतीतिस्तु तत्राधिष्ठा-नगतसत्त्वारोपात्। ..... यावद्विशेषदर्शनमबाधस्तदुत्तरं च बाधः। (तत्रैव, पृ. 229)

अयं भावः। दोषोऽनेकविधः। तत्र मृगमरीचिकादिस्थले विषयगतश्चा-कचकयादिदोषः, रज्जुसर्पस्थले वायुजनितकम्पादिदोषः। पीतशङ्खादिस्थले पित्तजन्यइन्द्रियदोष इत्याद्यूहनीयम्। बाधात्, पूर्वं दोषज्ञानाद् वा पूर्वं सर्वं ज्ञानं स्वतः प्रमाणमेव, बुद्धिस्थतत्तद्विषयज्ञानस्यैव प्रयोजकत्वात्। शङ्खे पीतिमज्ञानं बाधितं सदप्यनुवर्तते, पित्तदोषस्य श्वेतिमन्यध्यारोपात्, पीतिमापि बुद्धिस्थएवेति। बुद्धिस्थं विषयमपेक्ष्य सर्वेषां ज्ञानानां प्रामाण्यं स्वत एव, तदुत्पत्तौ ज्ञप्तौ च तदन्यानपेक्षणात् ---

प्रसिद्धसामग्रीव्यतिरेकेऽपि यया सामग्र्या शुक्त्यादौ रजताद्युत्पत्तिस्तया सामग्र्या विषयासत्त्वेऽपि तदसन्निकर्षेऽपि ज्ञानाङ्गीकारेऽपि न बाधकम्। (तत्रैव, पृ. 232)

अपि च ज्ञानस्योत्पत्तिरेव ज्ञप्तिः -

ज्ञानशब्दप्रदीपानां त्रयाणामपि स्वप्रकाशत्वात् ।

(तत्रैव, पृ. 309)



विषयाकारत्वेन बुद्धेः परिणामविशेष एवेह ज्ञानम्। विषयश्च बुद्धिस्थ एवेति न तत्र किमप्यप्रामाण्यम्। बाह्यार्थविसंवादेन च तदेव ज्ञानमप्रमेति निगद्यत इत्यवोचाम्। तत्रापि शब्दप्रामाण्यविषये विशेषः। तथा हि---

यत्र ह्याभ्यन्तरार्थस्य बाह्यार्थेन संवादः स शब्दः प्रमाणं विसंवादे त्वप्रमाणमिति व्यवस्था। एवमेवायं शब्दः प्रमाणं न वेत्यादेरिदं ज्ञानं प्रमा न वेत्यादेशचोपपत्तिः। (तत्रैव, पृ. 318)

ननु शब्दस्य स्वप्रकाशत्वेऽभ्युपगते कोऽयमप्रामाण्यस्यावकाशः। बाह्यार्थविसंवादेऽपि यज्ज्ञानं शब्देनावसितं तत् तु प्रमाणमेव स्यात्। "अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि।" इत्युक्तेः। ज्ञानं च बुद्धिस्थविषयकं सर्वं चेत् प्रमाणं तर्हि किमपराद्धं शब्देनेति चेदुच्यते---

वस्तुतः सर्वः शब्दः प्रमाणमेव। अनाप्तोक्तत्वज्ञानं तु तज्जन्यज्ञाने अप्रामाण्यग्राहकम्। (तत्रैव, पृ. 536)

यदाऽर्थे प्रतिपाद्ये शब्दः प्रयुज्यते, श्रुतिमात्रेण चासावर्थं प्रतिपादयति, बुद्धिस्थश्चार्थो ज्ञानविषयतां भजति, तदानाप्तोक्तोऽपि शब्दो नानर्थं प्रतिपादयितुमीष्टे। अनाप्तोक्तत्वे प्रवृत्तिर्व्याहन्यते, प्रवृत्तौ वा सत्यामर्थक्रिया न सिध्यतीत्येवाप्रामाण्यं लौकिकशब्दस्य स्यात्। नानाप्तोक्तत्वं शब्दस्य दोषः, किन्तर्हि, वक्तुः। एवं च वाचकस्य वाच्यं प्रत्येकनिष्ठतया क्वाप्रामाण्यमापतेत्। तज्जन्यं ज्ञानमपि न वाच्यमतिक्रामतीति कुतो ज्ञानस्याप्रामाण्यम्। वक्तुर्दोषो ज्ञानेऽध्यारोप्यत इति चेत् तर्हि शब्देऽपि स दोष आरोपयितुं शक्यः। औपचारिकं प्रयोगं व्यवहारोऽनुरुणद्धि तर्हि न कापि क्षतिः। परमार्थस्तु शब्दस्य सदा प्रामाण्यमेवावगाहत इति दिक्।

अयमत्र निष्कर्षः। शब्दस्य स्वत एव प्रामाण्यम्, तत्प्रतिपाद्यस्य बुद्धिस्थस्यार्थस्य सर्वथा प्रमाविषयत्वात्। यत्रापि बाह्यार्थविसंवादेन सांव्यवहारिकमप्रमात्वं प्रतीयते तत्रानाप्तोक्तत्वविशिष्ट-शब्दजन्यज्ञानस्य ज्ञेयाकारबुद्धिपरिणामरूपस्यैवाप्रामाण्यं न तु शब्दस्य। बुद्धिस्थपदार्थविषयकत्वेन

सर्वेषां ज्ञानानां स्वतः प्रामाण्यम्। तच्च बाह्यार्थसंवादे तथैव स्वतस्त्वभागा।  
 विसंवादे च सति बाह्यार्थालम्बिनो ज्ञानपरिणामस्य तु परत एवाप्रामाण्यम्  
 बुद्धिस्थविषयावगाहिनः खलु न कुतोऽप्यप्रामाण्यमिति।

+ + + + +



## अथ स्वतस्त्व-परतस्त्ववादाः

यद्यपि नैयायिकानां परतस्त्वमेव प्रामाण्याप्रामाण्ययोः स्थितम्, तथापि जरनैयायिकास्तत् प्रत्यक्षसीमनि स्वीकुर्वाणा अनुमानादीनां स्वतः प्रामाण्यमभ्युपयन्ति। तत् खलु नव्या अन्यथा गमनिकां वितन्वानाः शङ्कामूलकत्वं सर्वत्र परतस्त्वस्य स्थापयन्ति। एतत् तु परतस्त्वविमर्शं वितनिष्यते। इह तु तान्येव मतानि पुरस्क्रियन्ते येषु क्वचित् स्वतस्त्वं क्वचिच्च परतस्त्वमिति।

तत्र शुद्धाद्वैतवेदान्तिनः

मूलतः पुष्टिमार्गमार्गणाविपुष्टान्तःकरणाः शुद्धाद्वैतिनो न प्रामाण्यमप्रामाण्यं चाधिकृत्य तथा कृतपरिकरा दृश्यन्ते। गोस्वामी पुरुषोत्तमः किञ्चिदिव चिन्तयति। सांख्यमतं पूर्वपक्षीकृत्यासौ ब्रूते-

केचित् सर्वकारकाणां स्वक्रियाशक्तेः स्वभाविकत्वादुभयमपि ज्ञानस्य स्वरसादेवावगम्यत इत्याहुः। तन्ना ज्ञानस्य स्वविषयतया-  
त्वयोर्युगपद् बोधनासमर्थत्वात्।

(प्रस्थानरत्नाकरः, पृ. 1533)

एवमेवान्यानि मतानि संक्षेपेणोपस्थाप्य सिद्धान्तितम् ---

प्रामाण्यांशे स्मरणत्वापत्त्या तस्य शुक्तिकारजतज्ञानतुल्यतापत्तिश्च।  
तथा सति प्रवृत्तिसामर्थ्यानुपपत्तिश्च स्यात्। अत ईदृशस्थले  
परतोऽन्यत्र च स्वत इत्यर्धजरतीयमेव युक्तमुत्पश्यामः।

(तत्रैव, पृ. 155)

यत्र स्वतस्त्वं नोपपद्यते, शङ्काग्रस्तत्वात्, तत्र परत एव

प्रामाण्यम्। यत्र पुनर्निःशङ्कमर्थसंवादिनी प्रवृत्तिस्तत्र स्वतस्त्वं प्रामाण्यस्यैत्याशयः। प्राभाकरा अपि वेदस्यापौरुषेयत्वेन स्वतः प्रामाण्यमभ्युपगच्छन्ति। लौकिकवाक्यानां चार्थस्यानुमानाधीनत्वेन परतस्त्वं तन्मतेऽपि दुर्वारम्। प्रामाण्यं ज्ञानस्य स्मृतिरूपत्वे स्वीकृते मिथ्यात्वं स्यात्।

ननु सर्वत्र सिसाधयिषाविरहसहकृतमिदं भावः प्रायाः पक्षतायाः सत्त्वेन परतस्त्वमेव किं न स्वीक्रियेत? निष्कम्पप्रवृत्तिदर्शनेन स्थलविशेषेषु तादृशपक्षतायाः प्रमात्रधीनयोगक्षेमत्वात्। प्रमाता चान्निःशङ्कमेव प्रवर्तते तर्हि स्वतस्त्वं दुष्परिहरम्। न च तादृशप्रवृत्तौ सत्यामपि क्वचित् समर्थप्रवृत्तिजनकता ज्ञानस्य नोपलभ्यते, यथा भ्रमस्थल इति वाच्यम्, तादृशस्थले परतस्त्वमेवाप्रामाण्यस्य सुस्थम्। न च सज्ज्ञानावसरेऽपि प्रामाण्यशङ्का जायते, तेन प्रामाण्यस्य परतस्त्वं क इव परिहरेदिति वाच्यम्, तत्र परतःप्रामाण्यं दत्तावकाशमिति सिद्धान्तस्य निर्दोषत्वात्। अपि च सर्वत्र परतस्त्वाङ्गीकारे प्रवृत्तिर्व्याहिन्यते, अनभ्यासदशायां व्याप्तेरगृहीतत्वेनानुमानस्यानवसरत्वात्। तत्रापि पूर्वजन्मसंस्कारेण व्याप्तिग्रह इति चेदोमिति ब्रूमः, किन्तु संस्कारानुद्बोधदशायां प्रवृत्तौ स्वतस्त्वमेव शरणं स्यात्। इत्थं चार्धजरतीयस्यौचित्यमिति।

अपि चार्हताः

तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च। (तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् 1/13)

प्रमाणस्य प्रामाण्यमुत्पत्तौ परत एव, ज्ञप्तौ स्वकार्ये च स्वतः परतश्चाभ्यासानभ्यासापेक्षया। (प्रमेयकमलमार्तण्डः)

ज्ञानस्य प्रमेयाव्यभिचारित्वं प्रामाण्यम्। तदितरत् त्वप्रामाण्यम्। तदुभयमुत्पत्तौ परत एव। ज्ञप्तौ तु स्वतः परतश्च। (प्रमाणनयतत्त्वालोकः 1/19-21)

इह ज्ञातकार्यमर्थपरिच्छेदरूपं ज्ञानप्रामाण्यं चेति द्वयमभ्यासदशायां स्वतोऽनभ्यासदशायां च परतो गृह्यते। या सामग्रीन्द्रियादिरूपा ज्ञानं



जनयति तदितरसामग्री बाह्यार्थसंवादविसंवादरूपा प्रामाण्यमप्रामाण्यं च जनयतीति तयोरुत्पत्तौ परतस्त्वमेव। एतत् सर्वं प्रमाणनयतत्त्वालोकस्य टीकायां स्फुटीकृतम्---

क. प्रमेयव्यभिचारित्वं न ज्ञानस्य स्वव्यतिरिक्तग्राह्यापेक्षयैव लक्षणीयम्। स्वस्मिन् स्वव्यभिचारस्यासम्भवात्। तेन सर्वं ज्ञानं स्वापेक्षया प्रमाणमेव, न प्रमाणाभासम्। बहिरर्थापेक्षया तु किञ्चित् प्रमाणं किञ्चित् प्रमाणाभासम्।

(रत्नाकरावतारिका 1/20)

इदं ज्ञानं प्रमाणं प्रमेयं प्रत्यव्यभिचारात्, इदं ज्ञानमप्रमाणं प्रमेयं प्रति व्यभिचारादिति प्रामाण्याप्रामाण्ययोरनुमानाधीनैवोत्पत्तिः, अत उत्पत्तौ परतस्त्वम्। अपि च ---

ख. ज्ञानस्य हि प्रामाण्यमप्रामाण्यं च द्वितीयमपि ज्ञानकारणगतगुणदोषरूपं परमपेक्ष्योत्पद्यते। निश्चीयते त्वभ्यासदशायां स्वतोऽनभ्यासदशायां तु परत इति।

(तत्रैव, 1/21)

ग. तत्र ज्ञानस्याभ्यासदशायां प्रमेयाव्यभिचारि तदितरच्चास्तीति प्रामाण्याप्रामाण्यनिश्चयः संवादक-बाधकज्ञानमनपेक्ष्य प्रादुर्भवन् स्वतो भवतीत्यभिधीयते। अनभ्यासदशायां तु तदपेक्ष्य जायमानोऽसौ परत इति।

(तत्रैव)

नन्वर्थक्रियाकारिताज्ञानं प्रमाणान्तरापेक्षमिति कथमभ्यासदशायामपि स्वतस्त्वमुपपद्येतेत्याह ---

घ. अर्थक्रियाज्ञानस्य तु स्वत एव प्रामाण्यनिश्चयः, अभ्यासदशापन्नत्वेन दृढतरस्यैवास्यात्पादात्।

(तत्रैव)

अथ स्वतस्त्वपदघटकस्य स्वशब्दस्य कोऽर्थः?

ङ. स्वशब्द आत्मार्य आत्मीयार्थो वा कथ्येत? नाद्यः पक्षः, स्वावबोधविधानेऽप्यन्धया बुद्ध्या स्वधर्मस्य प्रामाण्यस्य निर्णेतुमशक्तेः। द्वितीये तु ..... अस्माभिरप्यात्मीयेनैव

ग्राहकेण प्रामाण्यनिर्णयस्य स्वीकृतत्वात्। (तत्रैव)

स्वशब्दस्य स्वकीयपर्यायित्वे मीमांसकानां जैनानां चैकमत्यम्, येन ग्राहकेण ज्ञानस्य ज्ञप्तिस्तेनैव प्रामाण्यनिर्णयः स्वत एवेति। किन्तु अनभ्यासदशायां परतस्त्वं जैनानामाग्रहः, तत्र च ज्ञानग्राहकेतर-विसंवादज्ञानेन ज्ञप्तिरिति। नेह कौमारिलमत इव ज्ञाततया प्रामाण्यनिश्चयः, किं तर्हि, संवादासंवादौ प्रामाण्याप्रामाण्ययोर्निश्चायकौ। अतश्चानभ्यासेऽनुमान-रूपप्रमाणान्तरापेक्षया परतस्त्वं व्यवस्मिमिति।

अथ सौगतानां स्वतस्त्वपरतस्त्वे

निर्व्यापारमिन्द्रियादिविज्ञानं प्रमाणत्वाय नावकल्पते। सव्यापारतामधिकृत्य वैभाषिकाणां बाह्यार्थप्रत्यक्षवादः, सौत्रान्तिकानां बाह्यार्थानुमितिवादः, गेगाचाराणां चात्मख्यातिवाद इति त्रितयी बौद्धानां प्रमाणमीमांसायां समुज्जृम्भते। तत्र 1. बाह्यविषयाकारतामश्नुवानं विज्ञानमेव प्रमाणं विषयपरिच्छेदश्च फलं प्रमेति वैभाषिकाः, 2. बाह्यविषयाकार एव विज्ञानसाधनत्वेन प्रमाणम्, अनुमानेन विषयाकारस्य संवेदनं फलमिति सौत्रान्तिकाः, 3. विज्ञानमेव विषयाकारतां भजते, प्रमेयरूपतां भजमानं बाह्यविषयाकारं विज्ञानं प्रमाणम्, विषयसंवेदनं च फलमिति विज्ञानवादिनो योगाचाराः। त्रयं चैतदेकधा कुर्वाणो दिङ्नाग उवाच---

सव्यापारप्रतीतत्वात् प्रमाणं फलमेव तत्।

प्रमाणत्वोपचारस्तु निर्व्यापारे न विद्यते॥

विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते।

स्वसंवित्तिः फलं वात्र तद्रूपार्थनिश्चयात्॥

यदाभासं प्रमेयं तत् प्रमाणमथ तत्फलम्।

ग्राहकाकारसंवित्ती त्रयं नातः पृथक् कृतम् ॥

(प्रमाणसमुच्चयः, 9-10)

त्रैधमवमत्य द्वैधमेव स्वीकुर्वाणः शान्तरक्षितः प्रावोचत् ---



विषयावगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते ।

स्ववित्तिर्वा, प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा ॥

(तत्त्वसंग्रहः 398)

अत्र टिटीके कमलशीलः -

बाह्येऽर्थे प्रमेये विषयाधिगमः प्रमाणफलम्, सारूप्यं (विषयाकारः)  
तु प्रमाणम्। ज्ञानात्मनि तु प्रमेये स्वसंवित्तिः फलम्, योग्यता  
प्रमाणम्।

अस्मिन् दर्शने निर्विकल्पकमेव ज्ञानं प्रत्यक्षपदभाक्। तस्यां दशायां  
प्रामाण्यं निश्चेतुं न शक्यते न चाप्रामाण्यमेव शक्यते वक्तुम्।  
चक्षुरूपे प्रतीत्य चक्षुर्विज्ञानं क्षणिकं निर्विकल्पं समुत्पद्यते।  
सविकल्पकदशाक्षणे पूर्वं विज्ञानं नश्यति। नष्टस्य विज्ञानस्य प्रामाण्यमप्रामाण्यं  
वार्थक्रियया जन्यते। अर्थक्रिया चेह बाह्यविषयाविसंवादः। विसंवादे  
चाप्रामाण्यम्। इत्थं किल परतस्त्वमेव फलितम्। न हि निर्विकल्पक्षणे  
प्रामाण्यमप्रामाण्यं वावधारयितुं प्रमाता प्रभवति। सविकल्पं विज्ञानं  
चानुमानरूपमिति प्रामाण्याप्रामाण्ययोरुत्पत्तिज्ञप्ती परत एव। तथा चाह  
धर्मकीर्तिः---

अर्थक्रियानुरोधेन प्रमाणत्वं व्यवस्थितम् ।

(प्रमाणवार्तिकम् 2/58)

इदं च व्याचक्षे मनोरथनन्दी ---

विशेषणावस्थितमर्थक्रियानुरोधेनानुमानमेव प्रमाणम् ।

अपि चात्रैव प्रज्ञाकरगुप्तः ---

तस्मादर्थस्य भेदस्य नाध्यक्षं साधकं विना ।

अनुमानं ततस्तस्य प्रमात्वं नानुमां विना ॥

अयमाशयः । यद्यप्यनुमानं सांवृतं मिथ्याज्ञानं सविकल्पं  
तथापि तदृते नार्थक्रियायाः सिद्धिः। अतोऽर्थक्रियासाधकत्वेनैव तत्  
प्रमाणपदवीमारोहति। बाह्यादेव सांवृतादर्थान् सिध्यदनुमानं परम्परयार्थप्रापकम्।  
प्रत्यक्षस्य विषयीभूतोऽर्थो भेदरूपो धर्मः --- रूपं, रसो, गन्धः.

स्पर्शः, शब्दो वा - क्षणादेव समुत्पद्यते निरुध्यते च। तादृशधर्मस्य निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं प्रामाण्याप्रामाण्याभ्यामुदासीनमप्रमाणमेव। अत एवोच्यते ज्ञानं स्वतः किलाप्रमाणम्। परतोऽनुमानादेव तत्प्रामाण्यमुत्पद्यते गृह्यते चेति प्रामाण्याप्रामाण्ययोः परतस्त्वं स्थितम्।

+ + + + +

तथागता यद्यपि मूलतः परतस्त्वमवलम्बन्ते तथापि स्वसंवेदनरूपं प्रत्यक्षं योगिप्रत्यक्षमनुमानं च स्वतःप्रमाणमभ्युपयन्ति। इन्द्रियजप्रत्यक्षमनु जायमानं स्वसंवेदनमधिकृत्य धर्मकीर्तिः प्राह ---

तस्मात् सुखादयोऽर्थानां स्वसंक्रान्तावभासिनाम् ।

वेदकाः स्वात्मनश्चैषामर्थेभ्यो जन्म केवलम् ॥

(प्रमाणवार्तिकम् 2/266)

अयमर्थः । ज्ञाने संक्रान्ता अर्था अवभासन्ते। तेन सुखादयो ज्ञानविषयीभूतास्तेनैव ज्ञानेन प्रकाश्यन्ते, अतो विषयेभ्यो जायमानं ज्ञानं स्वतः प्रकाशकम्। इत्थं च स्वसंवेदनं स्वत एव प्रमाणम्, तत्प्रामाण्यं त्वर्थस्य तथात्वं नाश्रयते। यादृशं प्रमाणमप्रमाणं वा प्रत्यक्षमिन्द्रियबलाज्जातं तस्यैव स्वसंवेदनं भवतीति तस्य स्वतः प्रामाण्यं व्यवस्थितम्।

सर्वज्ञस्य सुगतस्य प्रत्यक्षं चेत् परतः प्रमाणं स्यात् तर्हि सर्वज्ञता क्व शरणं यायादिति योगिप्रत्यक्षस्य स्वतः प्रामाण्यम् -

तत्र प्रमाणं संवादि यत् प्राङ् निर्णीतवस्तुवत् ।

तद् भावनाजं प्रत्यक्षमिष्टम् ॥

(तत्रैव 2/286)

यथार्थसत्यविषयं भावनाबलजं संवादित्वात् प्रत्यक्षं प्रमाणम्।

(मनोरथनन्दी)

योगभावनाबलाज्जातं प्रत्यक्षज्ञानं पूर्वनिर्णीतवस्तुवदेव स्वतः प्रमाणम्। यथा तथागतस्यार्थसत्यविषयकं प्रत्यक्षं सदा संवादि। इत्येवं प्रत्यक्षद्वयं स्वतः प्रमाणमिति भावः।

इदं सर्वं मनसिकृत्य मोक्षाकरः संक्षेपयाम्बभूव ---



प्रत्यक्षस्य स्वतः प्रामाण्यम्, कस्यचित् तु परतः। योगिज्ञानस्य स्वसंवेद्यज्ञानस्य च स्वत एव प्रामाण्यम्। अनुमानस्य तु निश्चयात्मकत्वात् स्वत एव प्रामाण्यम्। (तर्कभाषा, पृ. 3)

योगजज्ञानं स्वसंवेदनं च विहाय प्रत्यक्षं परतः प्रमाणमित्यर्थः। तत्रानुमानस्य स्वतस्त्वविषये मनोरथनन्दी व्याचष्ट्यौ -

यत् तावदसकृद् व्यवहाराभ्यासाद् दर्शनिमात्रेणोपलक्षित-  
भ्रमविविक्तस्वरूपं साधनाध्यक्षं तस्य स्वत एव  
प्रामाण्ययोग्यतानिश्चयः ....अनुमानस्य च साध्यप्रतिबद्धजन्मतो  
व्यभिचारशङ्काविरहात्। (प्रमाणवार्तिकटीका 1:3)

अर्थात् योगिप्रत्यक्षं स्वसंवेदनप्रत्यक्षं साध्यप्रतिबद्धजन्यं साधनप्रत्यक्षं चेति प्रत्यक्षत्रयी स्वतः प्रमाणम्। तथा चानुमानमपि स्वतः प्रमाणम्, प्रत्यक्षस्य प्रामाण्याप्रामाण्यनिश्चायकत्वात्। इतरत् प्रत्यक्षं परत एव प्रमाणम्, अनुमानाधीनप्रामाण्यकत्वात् तत्र हि अर्थक्रियानियतं बाह्यार्थसंवादं साधनीकृत्यानुमानेन ज्ञानस्य तथात्वनिश्चयः। विसंवादेन चातथात्वनिश्चय इत्यप्रामाण्यमपि परत एव। नन्वर्थक्रियाया अपि संवादविसंवादौ चेदनुमानेन निश्चीयेते तर्हि अर्थक्रियाया अपि काचिदर्थक्रियान्वेष्टव्या भवेत्, ततोऽपि ततस्तरां चेत्यनवस्थापात इति चेन्न,

अर्थक्रियानिर्भासं तु प्रत्यक्षं स्वत एवार्थक्रियानुभवात्मकम्। न  
तत्र परार्थक्रियापेक्ष्यत इति तदपि स्वतो निश्चितप्रामाण्यम्।  
अत एवार्थक्रियानुसरणादनवस्थादोषोऽपि दुःस्थ एव। (तत्रैव)

अर्थक्रियासापेक्षं यस्य प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यं तस्यैव परतस्त्वमिति तदितरज्ञानानां स्वतः प्रामाण्यं निश्चीयत इति। अर्थक्रियैव चेत् सन्दिह्येत तर्हि अन्यार्थक्रियादृष्टान्तेन तस्याः प्रामाण्यं परतोऽपि निश्चेतुं शक्यते।

तदेवाह ---

यत् तु अनभ्यस्तदशायां सन्दिग्धप्रामाण्यम्, उत्पत्तां  
तस्यार्थक्रियाज्ञानादनुमानाद् वा प्रामाण्यं निश्चीयते। (तत्रैव)

अयमत्र सारः । अर्थक्रिया ह्यव्यभिचारि लिङ्गम्। तेन

प्रत्यक्षस्य (स्वसंवेदनादितरस्य) प्रामाण्यं निश्चीयते। अभ्यासदशायां कस्याश्चिदर्थक्रियायाः प्रामाण्यमन्यार्थक्रियादृष्टान्तेन साध्यतां नाम किन्तु अर्थक्रिया प्रामाण्यस्य कार्यरूपेति..... तां प्राप्य कोऽपि प्रमाता तत्प्रामाण्यसाधने कुतः प्रयस्येत्, संशये सत्येवान्यामर्थक्रियां दृष्टान्तीकृत्यानभ्यासदशायां तथा प्रयतेतापीति का क्षतिः? अर्थक्रियाज्ञानं च स्वस्मिन् स्वत एव प्रमाणम्। अप्रवृत्तौ प्रवृत्तिप्रतिबन्धे वा संशयापातश्चेत् तदैव प्रमाणान्तरापेक्षयार्थक्रियाज्ञानस्य परतस्त्वमपि न व्याघातकारीति।

+       +       +       +       +



## अथ परतस्त्ववादविमर्शः

नैयायिका एव, तदनुचारिणोऽर्वाचीना वैशेषिका अपि, मूलतः परतःप्रामाण्यमभ्युपयन्ति। तत्रापि प्रत्यक्षस्य शब्दस्य च परतःप्रामाण्यं सर्वसम्मतम्, अनुमानोपमानयोर्विषये वैमत्यं लक्ष्यते। अनवस्थां परिहरन् वाचस्पतिमिश्रोऽनुमानोपमानयोः स्वतस्त्वं व्यवस्थापयत्कार ---

अनुमानस्य तु प्रवृत्तिसामर्थ्य-लिङ्गजन्मनोऽन्यस्य वा निरस्तसमस्तव्यभिचारशङ्कस्य स्वत एव प्रामाण्यम्, अनुमेयाव्यभिचारिलिङ्गसमुत्थत्वात्। न हि लिङ्गाकारं ज्ञानं लिङ्गं विना, न च लिङ्गं लिङ्गिनं विनोति स्वत एव गृहीताव्यभिचारिलिङ्गसमुत्थं निष्कम्पमुत्पद्यते ज्ञानम्। प्रत्यक्षज्ञानं त्वर्थादुत्पद्यमानमपि न गृहीताव्यभिचारादपि तु सत्तामात्रेणावस्थितात्। न च कारणान्तराण्यपीन्द्रियादीनि अस्यार्थेन गृहीताव्यभिचाराणि, न चार्थेनाव्यभिचाराणि। शाब्दं तु ज्ञानं चार्थादुत्पद्यते, तदभावेऽपि सति शब्दे भावात्। नापि लिङ्गस्येव शब्दस्यार्थाव्यभिचारः किन्तु सङ्केतमात्रग्रहणात् पदार्थप्रत्यायनेन वाक्यार्थमधिगमयति शब्दः। तस्मात् प्रत्यक्षशब्दविज्ञानयोर्न स्वतः अव्यभिचारग्रह इति। प्रवृत्तिसामर्थ्यं तज्जातीयं वा लिङ्गमर्थाव्यभिचारायानुसरणीयम्। ज्ञानगत-तज्जातीयत्वलिङ्गग्राहिणश्च ज्ञानस्य मानसप्रत्यक्षस्य तादृशस्यादृष्टव्यभिचारतया परितो निरस्तसमस्तविध्रमाशङ्कस्य स्वतःप्रामाण्यमिति नानवस्था। एतेनोपमानं व्याख्यातम्। (न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका 1/1/1)

नैतां स्थापनां यथावद् गृह्णन्ति नव्याः। तथा हि गङ्गेशोपाध्याया व्यविञ्चन् ---

क. न ब्रूमो ज्ञानप्रामाण्यनिश्चयादेवार्थनिश्चय इति किन्तु यत्राप्रामाण्यशङ्का नास्ति करतलामलकादिज्ञाने तत्र व्यवसाय एवार्थनिश्चय इति तत एव प्रवृत्तिर्निष्कम्पा। यत्रानभ्यासद्वशायां

प्रामाण्यसंशयेनार्थनिश्चयं परिभूयार्थसंशयस्तत्र  
प्रामाण्यनिश्चयाधीनज्ञानादर्थं निश्चित्य निष्कम्पं प्रवर्तते नान्यथेति  
सर्वानुभवसिद्धम्।

(तत्त्वचिन्तामणिः, प्रत्यक्षखण्डः, पृ. 293-94)

प्रामाण्यज्ञानं न प्रवृत्तौ प्रयोजकं किं तर्हि ज्ञानमात्रम्। अत एव शुक्तौ  
रजतज्ञानेन प्रवर्तते निवर्तते च रज्जौ सर्पज्ञानेन। अभ्यासवशात् तथा  
प्रवर्तते निवर्तते च। तत्र नानुव्यवसायमपेक्षते, व्यवसायादेव तु प्रवर्तते।  
नैतावता परतस्त्वं बाध्यते। अनुमितेरपि सैव गतिः।

ख. प्रामाण्यसंशयेन लिङ्गस्यापि सन्देहात्। न हि न लिङ्गज्ञानं  
प्रामाण्यसंशयः, अविरोधादित्युच्यते। अप्रामाण्य-  
शङ्काकलङ्काभावे लिङ्गादिज्ञानस्यैवार्थनिश्चायकत्वात्।  
तत्कलङ्के तूक्तैव गतिः। (तत्रैव, पृ. 298)

इत्थं यावत्प्रामाण्यशङ्कमनुमानं शरणमिति परतस्त्वमेव प्रामाण्यस्य  
स्थितम्। प्रामाण्यनिश्चयं विनैव प्रवर्तते चेत् तर्हि न स्वतस्त्वं  
किन्त्वभ्यासवशात् प्रवृत्तिरिति न किञ्चिच्छिद्यते परतःप्रामाण्यवादस्य।

ग. अत एवागृहीतप्रामाण्यमेव ज्ञानं पर-प्रामाण्यं निश्चाययति।  
यत्राप्रामाण्यशङ्कया प्रामाण्यसंशयस्तत्र प्रामाण्यज्ञाने  
प्रामाण्यनिश्चयादेव प्रामाण्यनिश्चयः। एवं यावदप्रामाण्यशङ्कं  
तज्ज्ञानप्रामाण्यनिश्चयादेव तन्निश्चयः। न चैवमनवस्था,  
चरमज्ञानप्रामाण्यस्य (ज्ञानज्ञानस्य) ज्ञानाभावेन  
कोटिस्मरणाभावेन विषयान्तरसञ्चारेण वा  
प्रामाण्यसंशयानवश्यंभावात्। (तत्रैव, पृ. 294)

“अयं लिङ्गपरामर्शः प्रमा न वा” इत्याकारकः संशयोऽनुमानेऽपि  
सम्भवी। अप्रामाण्यशङ्काया अभावे लिङ्गपरामर्शोऽनुमाने,  
सादृश्यज्ञानमुपमाने, वाक्यार्थज्ञानं च शाब्देऽर्थनिश्चायकम्। प्रत्यक्षस्थलेऽपि  
न चेत् प्रामाण्यशङ्का तर्हि अर्थनिश्चयो भवेदेव। स्वतस्त्ववादी प्रवृत्तिं  
प्रति प्रामाण्यज्ञानं प्रयोजकं मनुते। गङ्गेशानुसारेण तु प्रामाण्यज्ञानं न  
क्वापि प्रवृत्तौ प्रयोजकम्। प्रत्यक्षेऽपि चेन्नास्ति शङ्का तदा प्रवृत्तिः



स्यादेव। प्रामाण्यशङ्काया अभाव एव तत्र प्रामाण्यनिश्चायकः  
-----इदं ज्ञानं प्रमा, प्रामाण्यशङ्काशून्यत्वात्, करतलामलक-  
ज्ञानवदित्यनुमानेनैव निर्णयः। वाचस्पतिना यदनुमानस्य स्वतःप्रामाण्यं  
स्थापितं तदपि शङ्काया अभावेन गमनिकामर्हति।

घ. यत् त्वनुमानस्य निरस्तसमस्तविध्रमाशङ्कस्य स्वत एव  
प्रामाण्यग्रह इत्युक्तम् ..... न तत्राप्रामाण्यशङ्केति  
प्रामाण्यनिश्चयादेवाप्रामाण्यशङ्काविरहादर्थं निश्चित्य  
निष्कम्पव्यवहार इत्यभिप्रायः। (तत्रैव, पृ. 299-300)

प्रवृत्तौ प्रामाण्यग्रहो न प्रयोजक इत्यवोचाम। शङ्काया अभाव एव  
वाचस्पतिना स्वतःप्रामाण्यमिति गदितो भवेदुपचारतः। तेन न परतस्त्वहानिर्न  
वा क्वचित् स्वतस्त्वाङ्गीकारेणार्धजरतीयस्वीकार इति।

ङ. यत् त्वभ्यासदशायां झटिति प्रचुरतरनिष्कम्पप्रवृत्तिदर्शनात्  
प्रामाण्यं स्वत एव गृह्यतेऽन्यत्र तु परत इति, तन्न,  
विशेष्यनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि-प्रकारानवच्छिन्नत्वादिकं प्रामाण्यं  
स्वतो ग्रहीतुमशक्यमिति परत एव गृह्यते। झटिति प्रवृत्तिस्तु  
..... अप्रामाण्यशङ्काशून्याद् व्यवसायादेव। न प्रामाण्यज्ञानं  
प्रवर्तकम्। (तत्रैव, पृ. 303)

+ + + + +

गौतमीयदर्शनेऽनुमाने सप्ताङ्गे संशयः प्राथम्यं भजतीति स्वतस्त्वं  
दूरापास्तमेव। तथा हि वात्स्यायनपादाः परिबभाषिरे ---

प्रमाणैरर्थपरीक्षणं प्रत्यक्षागमाश्रितं चानुमानम्। सान्वीक्षा।  
प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यार्थस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा। तथा प्रवर्तत  
इत्यान्वीक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रम्। (न्यायभाष्यम् 1/1/1)

एतेन परतःप्रामाण्यं सङ्केतितम्। प्रत्यक्षमागमीयं च ज्ञानमनुमानेन  
परीक्ष्यैव प्रामाण्यं निश्चीयत इति। संशयस्वरूपं निरूपयन्नुद्योतकरः  
प्राह ---

संशयस्तावद् वस्तुस्वरूपानवधारणात्मकः प्रत्ययः।  
 अनवधारणात्मकश्च प्रत्ययश्चेति व्याह्र्यते। न व्याघातः,  
 स्वरूपावधारणात्। स्वरूपमस्यावधार्यते, अस्ति मे संशयज्ञानमिति  
 वस्तुस्वरूपं तु मानेन परिच्छिद्यते। (न्यायवार्तिकम् 1/1/1)

अत्र वाचस्पतिमिश्राः

1. विज्ञानस्य तावत् प्रामाण्यं स्वतो वा निश्चीयते परतो वा?  
 न तावत् पूर्वः कल्पः। न खलु विज्ञानमनात्मसंवेदनमात्मानमपि  
 गृहणीयात् प्रागेव तत्प्रामाण्यम्। नापि विज्ञानान्तरम्, तद्  
 विज्ञानमित्येव गृहणीयान् पुनरस्याव्यभिचारित्वम्। ज्ञानत्वमात्रं  
 च तदाभाससाधारणमिति न स्वतःप्रामाण्यावधारणम्। एतेन  
 स्वसंवेदन-नयेऽप्यव्यभिचारग्रहणं प्रत्युक्तम्।

(तात्पर्यटीका 1/1/1)

2. नापि परतः। परं तद्गोचरं वा ज्ञानमभ्युपेयेत्, अर्थक्रियानिर्भासं  
 वा ज्ञानम्, तद्गोचरनान्तरीयकार्थान्तरदर्शनं वा? तच्च  
 सर्वं स्वतो नवधारितप्रामाण्यमाकुलं सत् कथं पूर्वं प्रवर्तकं  
 ज्ञानमनाकुलयेत्? स्वतो वास्य प्रामाण्ये किमपराद्धं  
 प्रवर्तकज्ञानेन, येन तस्मिन्नपि तन्न स्यात्? न च प्रामाण्यं  
 ज्ञायते स्वत इत्यावेदितम्। यदा च संवेदनप्रामाण्यमुक्तेन  
 क्रमेण दुरधिगमं तदा कैव कथेन्द्रियादीनाम-  
 व्यभिचारिसंवेदनकार्यव्यङ्ग्यप्रमाणभावानाम्? तदेवं दृष्टार्थाः  
 प्राणभृतां व्यवहारा भवन्तु सन्देहादपि यथा तथा, अदृष्टार्थास्तु  
 बहुवित्तव्याभास-साध्या वैदिका व्यवहारा दत्तजलाञ्जलयः  
 प्रसक्ताः। (तत्रैव)

3. (अत्र समाधीयते ----) इयमेव चार्थाव्यभिचारिता प्रमाणस्य  
 यद् देशकालनरावस्थान्तराविसंवादोऽर्थस्वरूपप्रकारयो-  
 स्तदुपदर्शितयोः। अत्र हेतुः प्रवृत्तिसामर्थ्यात् समर्थप्रवृत्ति-



जनकत्वम्। यदि पुनरेतदर्थवन्नाभविष्यद्, न समर्थप्रवृत्ति-  
मकरिष्यत्, यथा प्रमाणाभास इति व्यतिरेकी हेतुः,  
अन्वयव्यतिरेकी वा, अनुमानस्य स्वतः प्रमाणतयान्वयस्यापि  
सम्भवात्। (तत्रैव)

4. यत् तावदुक्तं प्रमाणस्य दुरवधारत्वादर्थविनिश्चयाभावान्न  
प्रवृत्तिसामर्थ्यामिति तत्र ब्रूमः। सत्यम्। न स्वतःप्रामाण्यं  
शक्यावधारणम्। परतस्तु दृष्टार्थेष्वनभ्यासदशापन्नेषु  
प्रवृत्तिसामर्थ्यादेव तद् गम्यते। अर्थप्रतीत्यधीना तु  
प्रवृत्तिर्नार्थावधारणाधीना, अर्थसन्देहादपि प्रेक्षावतां प्रवृत्तेः।  
नो खलूपायताविनिश्चयेनापि प्रवर्तमाना नानागतफले सन्दिहते।  
तदमी सन्दिहाना अपि प्रवर्तमान प्रवृत्तिसामर्थ्यात् प्रमाणस्य  
तत्त्वं विनिश्चित्य तज्जातीयस्यान्यस्याभ्यासदशापन्नस्य  
प्रवृत्तिसामर्थ्यात् प्रागेव तज्जातीयत्वेन लिङ्गेन  
प्रामाण्यावधारणादर्थविनिश्चयेन प्रवर्तन्ते। (तत्रैव)

5. न च फलज्ञानं परीक्ष्यते प्रेक्षादिभः। तस्य यादृश-  
तादृशस्यापीष्टत्वात्। इष्टलक्षणत्वाच्च फलस्य तत्साधनं  
त्वेते परीक्षन्ते। तथाहि तोयज्ञानम्, पिपासोस्तत्र प्रवृत्तिः,  
प्रवृत्तस्य तदाप्तिः, आप्तस्य पानम्, पानेन चोदन्योपशान्ति-  
रित्येतावतैव प्रमाता कृती भवति, न पुनरुदन्योपशममपि  
परीक्षते। तस्य यादृशतादृशस्यापीष्टत्वादिति केचित्।  
(तत्रैव)

6. वयं तु ब्रूमः। फलज्ञानमपि अभ्यासदशापन्नतया तज्जातीयत्वेन  
लिङ्गेनावधृतमेव। एवं तत्पूर्वं तत्पूर्वतरं तत्पूर्वतममिति।  
न च सम्प्रतितनस्य फलज्ञानस्य प्रामाण्यावधारणायेदानीमेव  
पूर्वस्य फलज्ञानस्य तज्जातीयत्वेन प्रामाण्यावधारणे सत्यन-  
वस्थेति वाच्यम्, पूर्वतरसाधर्म्येण पूर्वमेव पूर्वस्याव- धृत-  
प्रामाण्यत्वात्। एवं पूर्वतमसाधर्म्येण पूर्वतरस्या। एवं तत्पूर्व-  
साधर्म्येण पूर्वतमस्येत्यनादितयैवात्र व्यवहारः। (तत्रैव)

7. एतेषु च मध्ये यत् फलज्ञानं स्वप्नाद्युपभोगतुल्यतया शङ्कितव्यभिचारं तदनभ्यासदशापन्नम्। अतः प्रवृत्तिसामर्थ्यं तत्र प्रामाण्यावधारणाय विनिवेशनीयमित्यर्थप्रति- पत्ति- प्रवृत्तिसामर्थ्ययोरनादित्वमुक्तम्। (तत्रैव)

यस्मिन् काले यस्य ज्ञानस्य प्रामाण्यं निश्चेयं तस्मिन् काले तस्य ज्ञानस्य पूर्वज्ञानं साधर्म्यदृष्टान्तमवकलय्य समर्थप्रवृत्तिजनकत्वरूपेणान्वयव्यतिरेकिणा लिङ्गेन प्रामाण्यं निश्चीयते। परन्तु अनभ्यासदशापन्नस्य ज्ञानस्य प्रामाण्यं केवलव्यतिरेकिणैव निर्धार्यते, जीवने हीदम्प्रथमतया जायमानस्य ज्ञानस्य स्वसजातीयज्ञानरूपदृष्टान्तासम्भवात्। अर्थज्ञानसमर्थप्रवृत्तिजनकत्वयोरनादित्वेन पूर्वजन्मसंस्कारोद्बोधेन व्यतिरेकव्याप्तिग्रहस्य सुव्याख्यानत्वात्। अनुमानस्य स्वतःप्रामाण्यस्वीकारेण नेहानवस्थादोष इति पूर्वतोऽनुसन्धेयम्।

8. यद्यपि चानुमानोपमानानुव्यवसायधर्मिज्ञानानामपि प्रामाण्यं परतोऽपि शक्यग्रहमेव, सन्ति हि तत्रापि यथायोगं लिङ्गसादृश्यज्ञानसमुत्पत्त्वादीनि तज्जातीयत्वलिङ्गानि, तथापि कोष्ठगत्या स्वत एव प्रामाण्यग्रहोऽत्र सुकरः। ..... विप्रतिपन्नं प्रति तु परत एव साधनीयं तदिति परमार्थः। अतः स्वत एवेत्यवधारणं नायोगव्यवच्छेदे नाप्यन्ययोगव्यवच्छेदे, किं तर्हि, अत्यन्तायोगव्यवच्छेद इति। (तत्रैव परिशुद्धिः)

9. अर्थसन्देहादनभ्यासदशापन्नात् प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यसम्भवात्, प्रवृत्तिसामर्थ्यज्ञानस्य चाभ्यासदशापन्नस्य तज्जातीयत्वेन प्रामाण्यानुमानाद्, अनादित्वान्नार्थप्रति- पत्तिप्रवृत्तिसामर्थ्ययोः परस्पराश्रयत्वमस्तीति। अर्थस्यापेक्षितोपायतानुमान-प्रवृत्तिसामर्थ्ययोः परस्परापेक्षितत्वमवशिष्यते। तत्राप्यनादिता परिहारः। (तत्रैव, तात्पर्यटीका)



## अथोदयनाचार्यः

अनुमानादः स्वतःप्रामाण्यमर्धहृदयेनैवासौ स्वीचकार। तदेतत् परिशुद्धिसन्दर्भेण निवेदितम्। प्रामाण्यजनको गुणः, अप्रामाण्यजनकश्च दोषः। प्रवृत्तिसामर्थ्यासामर्थ्याभ्यां तयोर्व्युत्पत्तिरिति सिद्धान्तः। वाचस्पतिना गुणदोषयोर्विमर्शो न कृत इति तत्रोदयनो विशेषं भजते ---

1. प्रमा ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीना, कार्यत्वे सति तद्विशेषत्वात्, अप्रमावत्। यदि च तावन्मात्राधीना भवेदप्रमापि प्रमैव भवेत्। अस्ति हि तत्र ज्ञानहेतुः, अन्यथा ज्ञानमपि सा न स्यात्।  
(न्यायकुसुमाञ्जलिः 2/1)

ज्ञानहेतुः सन्निकर्ष-लिङ्गपरामर्शादिः। हेतुगतौ गुणदोषौ प्रमात्वाप्रमात्वयो-  
रुपपादकाविति निष्कर्षः। तथा च प्रामाण्याप्रामाण्ययोरुत्पत्तौ परतस्त्वमिति  
यावत्।

2. ज्ञानतोऽप्यतिरिक्त-दोषानुप्रवेशादप्रमेति चेत्, एवं तर्हि दोषाभावमधिकमासाद्य प्रमापि जायेत, नियमेन तदपेक्षणात्। अस्तु दोषाभावोऽधिको भावस्तु नेष्यत इति चेद्, भवेदप्येवं यदि नियमेन दोषैर्भावरूपैरेव भवितव्यम्। न त्वेवम्, विशेषदर्शनादेरभावस्यापि दोषत्वात्। कथमन्यथा ततः संशयविपर्ययो? ततस्तदभावो (अभावाभावो) भाव एवेति कथं स नेष्यते।  
(तत्रैव)

स्थाणु-पुरुषयोः सामान्यधर्मदर्शनेन संशयो जायते। तत्र विशेषधर्मदर्शनाभावो हेतुः। रज्जौ सर्पभ्रमस्थले कुटिलतादिसामान्यधर्मदर्शनेन सजीवत्वादिविशेष-  
धर्मादर्शने हेतुः। अत्र दोषाभावाभाव एव स्वीक्रियेत। क्वचिदभावाभाव एव गुणोऽपि भवतीति परतःप्रामाण्यं निश्चीयते।

3. स्यादेतत्। शब्दे तावद् विप्रलिप्सादयो भावा एव दोषाः। ततस्तदभावे स्वत एव शाब्दी प्रमेति चेन्न। अनुमानादौ लिङ्गविपर्यासादीनां भावानामपि दोषत्वे तदभावमात्रेण प्रमानुत्पत्तेः। अन्यत्र यथा तथास्तु, शब्दे तु विप्रलिप्साद्यभावे

वक्तृगुणापेक्षा नास्तीति चेन्न। गुणाभावे तदप्रामाण्यस्य वक्तृदोषापेक्षा नास्तीति विपर्ययस्यापि सुवचत्वात्। अप्रामाण्यं प्रति दोषाणामन्वयव्यतिरेकौ स्त इति चेन्न। प्रामाण्यं प्रत्यपि गुणानां तयोः सत्त्वात्। (तत्रैव)

4. पौरुषेयविषय इयमस्तु व्यवस्था, अपौरुषेये तु दोषानिवृत्त्यैव प्रामाण्यमिति चेन्न, गुणनिवृत्त्या अप्रामाण्यस्यापि सम्भवात्। तस्या अप्रामाण्यं प्रति सामर्थ्यं नोपलब्धमिति चेद्, दोषनिवृत्तेः प्रामाण्यं प्रति क्व सामर्थ्यमुपलब्धम्? लोकवचसीति चेत्, तुल्यम्। तदप्रामाण्ये दोषा एव कारणम्, गुणनिवृत्तिस्तु अवर्जनीयसिद्धसन्निधिरिति चेद्, दोषाणामपि गुणोत्सारणप्रयुक्त इत्यस्तु। (तत्रैव)

अत्र वेदस्य पौरुषेयतां साधयितुमाचार्यस्य प्रयासो लक्ष्यते। गुणैः प्रामाण्यं दोषैश्चाप्रामाण्यं व्यवस्थितमिति मौली स्थापना। परमात्मा परमाप्तो वेदवक्तेति गुण एव प्रामाण्यं जनयन्ति। आप्तोक्तानि वाक्यानि लोके प्रामाण्यं वहन्तीति दृष्टान्तः। इत्थमनुमानकृतस्य प्रामाण्यनिश्चयस्य परतस्त्वमेव। उत्पत्तिवज्ज्ञप्तिरपि परतः।

5. एवं प्रामाण्यं परतो ज्ञायते, अनभ्यासदशायां सांशयिकत्वात्, अप्रामाण्यवत्। यदि तु स्वतो ज्ञायेत, कदाचिदपि प्रामाण्यसंशयो न स्याद्, ज्ञानत्वसंशयवत्। निश्चिते तदनवकाशात्। न हि साधकबाधकप्रमाणाभावमवधूय समानधर्मादिदर्शनादेवासौ, तथा सति तदनुच्छेदप्रसङ्गात्। (तत्रैव)

6. यदपि झटिति प्रचुरतरसमर्थप्रवृत्त्यन्यथानुपपत्त्या स्वतः-प्रामाण्यमुच्यते तदपि नास्ति, अन्यथैवोपपत्तेः। झटिति प्रवृत्तिर्हि झटिति तत्कारणोपनिपातमन्तरेणानुपपद्यमाना तमाक्षिपेत्, प्रचुरप्रवृत्तिरपि स्वकारणप्राचुर्यात्, इच्छा च प्रवृत्तेः कारणम्, तत्कारणमपीष्टाभ्युपायताज्ञानात्, तदपि तज्जातीयत्वलिङ्गा-नुभवप्रभवम्, सोऽपीन्द्रियसन्निकर्षादिजन्मा, न तु प्रामाण्यग्रहस्य



क्वचिदप्युपयोगः। उपयोगे वा स्वत एवेति कुत एतत्? ततः समर्थप्रवृत्तिप्राचुर्यमपि प्रामाण्यप्राचुर्यात् तद्ग्रहणप्राचुर्याद् वा? स्वतस्त्वं तु तस्य क्वोपयुज्यते? न हि पिपासूनां झटिति प्रचुरा समर्था च प्रवृत्तिरम्भसीति पिपासोपशमन-शक्तिस्तस्य प्रत्यक्षा स्यात्। (तत्रैव)

7. स्यादेतत् । प्रामाण्यग्रहे सति सर्वमेतदुपपद्यते। स च स्वतो यदि न स्याद्, न स्यादेव, परतःपक्षस्यानवस्था-दुःस्थत्वादिति चेन्न। तदग्रहेऽपि अर्थसन्देहादेव सर्वस्योपपत्तेः। न चानवस्थापि, प्रामाण्यस्यावश्यज्ञेयत्वानभ्युपगमात्। अन्यथा स्वतः पक्षेऽपि सा स्यात्। लिङ्गं निश्चितमेव निश्चायकम्, ततस्तन्निश्चयार्थमवश्यं लिङ्गान्तरापेक्षायामनवस्थेति चेत्, तत् किमनुपपद्यमानोऽर्थो निश्चित एव स्वोपपादकमाक्षिपति येनानवस्था न स्यात्? (तत्रैव)

वाचस्पतिमिश्रः खल्वर्थज्ञानं समर्थप्रवृत्तिं चानादिं मन्वानोऽनवस्थानं प्रकारान्तरेणाभ्युपेयाय। तथा हि समर्थप्रवृत्तिजनकत्वं तज्जातीयत्वं वा हेतुः प्रामाण्यमनुमापयतीति। उदयनाचार्यस्तु समर्थप्रवृत्तये सर्वत्र प्रामाण्यज्ञानं न स्वीकरोति, यदा तदपेक्ष्यते तदा समर्थप्रवृत्तिं प्रति प्रामाण्यमनुमीयते। अनपेक्षायां प्रामाण्यानुमानं विनापि समर्थप्रवृत्त्या भवितव्यमिति न काप्यनवस्था।

**भासर्वज्ञः**

परतस्त्वं स्थापयिष्यन्नाचार्यो भासर्वज्ञस्तावत् पूर्वपक्षे स्वतस्त्वमुपोद्वलयाम्बभूव -

स्वतःप्रामाण्यं च प्रमाणानामुत्पत्तौ प्रवृत्तौ ज्ञप्तौ च निरपेक्षत्वम्। ..... न त्वेवं सम्यग्ज्ञानं यथार्थत्वे बोधोत्पादक-सामग्र्यतिरिक्तं किञ्चिदपेक्षते। ..... तथा सम्यगर्थप्रकाशनाख्ये स्वकार्ये प्रवर्तमानं प्रमाणं स्वात्मज्ञानं कारणगुणान् वा नापेक्षते। स्वज्ञप्तावपि बोधात्मकत्वव्यतिरेकेण न किञ्चिदपेक्षते, अनवस्थाप्रसङ्गात्।

अप्रमाणं तु हेतूत्थदोषज्ञानमर्थान्यथात्वज्ञानं वापेक्षत इति।

(न्यायभूषणम्, पृ. 38-39)

प्रत्याख्यानपराः कतिपर्येऽशा इत्थं प्रसरन्ति ---

1. यत् तावदुत्पत्तौ निरपेक्षत्वमिति, तन्न। प्रकाशदेशादृष्टादि-  
विशेषापेक्षत्वात्। ..... लिङ्गादितत्त्वज्ञानं चानुमेयादि-  
बुद्धावन्वयव्यतिरेकावधारित-सामर्थ्यमन्तःकरणादिभिरपेक्ष्यते।  
तत् कथं प्रमाणस्य निरपेक्षत्वम्? काच-कामलादयस्तु  
गोलकादिसन्निविष्टानां धातूनां वैषम्यावस्थामात्रत्वात् कथं  
तदपेक्षया परतोऽप्रामाण्यम्? साम्यावस्थयापि परतोऽप्रामाण्य-  
प्रसङ्गात्। कथं न दोषाभावापेक्षित्वेऽपि चक्षुरादेः प्रामाण्योत्पत्तौ  
सापेक्षत्वम्। (पृ. 39)
2. न च स्वतःप्रामाण्योत्पत्तौ किञ्चित् प्रमाणमस्ति। विपर्यये  
त्विदमनुमानम्, प्रामाण्यं परतो भवति अभूत्वा  
भावित्वादप्रामाण्यवदिति। (तत्रैव)
3. स्वकार्यप्रवृत्तावपि प्रमाणस्य सापेक्षत्वम्, विशिष्टबोधजनकस्य  
चक्षुरादेरेव प्रमाणत्वात्, तस्य च सापेक्षत्वं (सन्निकर्षाद्यपेक्षत्वं)  
प्रतिपादितम्। सामग्र्यवस्थायां तु निरपेक्षत्वमप्रमाणेऽप्यस्ति,  
न विशेषः कश्चित्। (पृ. 40)

प्रवृत्तेः सापेक्षत्व-निरपेक्षत्वे स्वतस्त्ववादसरणिं नावगाहेते। प्रवृत्तिर्हि  
प्रमाणस्य भवति, स्वतस्त्वं तत्प्रामाण्यस्य विवेच्यम्। प्रामाण्यस्योत्पत्तेर्ज्ञप्तेश्च  
विवादो दृश्यते, न तु प्रवृत्तेः। प्रमाणप्रामाण्योर्भेदमनवेक्ष्यैव भासर्वज्ञेन  
यदुक्तं तच्चिन्त्यमेव भाति। अपि च प्रामाण्यघटकीभूतः प्रमाणशब्दः  
प्रमाणपर्यायः, प्रामाण्यं च प्रमात्वम्। नार्थज्ञानस्य तथात्वम्, तद्वति  
तत्प्रकारकत्वमिति। का नाम ज्ञानप्रामाण्यस्य प्रवृत्तिरपि स्यात्। या च  
प्रमाणस्य प्रवृत्तिः सा नैव वादस्य विषय इति दिक्।

4. तथा च ज्ञप्तिरपि परतः, स्वतो ज्ञप्तिसिद्धौ प्रमाणाभावात्।  
..... प्रामाण्यं परतो ज्ञायते ज्ञेयत्वादप्रामाण्यवदिति।



बोधात्मकत्वेनैव प्रामाण्यसिद्धौ स्वतः प्रामाण्यमिति चेन्न,  
बोधात्मकत्वस्याप्रामाण्येऽपि समानत्वात्। (तत्रैव)

“विमतं प्रामाण्यं स्वाश्रयग्राहकसामग्रीग्राह्यं बोधात्मकत्वाज्ज्ञानत्ववद्”  
इत्यनुमानेन प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वं यत् स्थाप्यते तन्न “अप्रामाण्यं  
स्वाश्रयग्राहकसामग्रीग्राह्यं बोधात्मकत्वाज्ज्ञानत्ववद्” इति प्रतिसाधन-  
ग्रस्तत्वादिति भासर्वज्ञस्याभिप्रायः। वस्तुतस्तु मात्रपदसन्निवेशेन स्वतस्त्वं  
साध्यते, अप्रामाण्यं तु स्वाश्रयीभूतज्ञानग्राहकसामग्रीमात्रग्राह्यं न भवति,  
दोषस्याधिकस्य सत्त्वादिति भाट्टानां पक्षः।

अथात्र विमृश्यते। प्रामाण्यनिश्चयात् प्राग् ज्ञानं सन्दिह्यते प्रमा  
न वेति। स एव संशयः प्रामाण्यनिश्चयकं ज्ञानमपि ग्रसेत्। तेन  
चानवस्था। तां परिहर्तुं व्यवहारस्यानादितां वाचस्पतिमिश्र आललम्बे।  
उदयनस्तु प्रामाण्यनिश्चयस्य सार्वत्रिकताममत्वानवस्थां परिजहार। भासर्वज्ञस्य  
त्विह तृतीयः पन्थाः ---

5. येनैव प्रमाणेनाप्रामाण्यशङ्का निवर्त्यते तेनैव प्रामाण्यनिश्चयोऽपि  
क्रियते स्थाण्वादिनिश्चयवत्। प्रमाणद्वयव्यापाराननुभवात्।  
तन्नाशङ्कानिवृत्तौ पश्चाद् बोधत्वेन प्रामाण्यनिश्चय इति।  
(पृ. 42)

आशङ्कानिवृत्तेः पश्चाद् बोधत्वेन हेतुना न प्रामाण्यनिश्चयः।  
समर्थप्रवृत्तिजनकत्वेनैवाशङ्का निवर्तते प्रामाण्यं च निश्चीयत इति  
नानवस्थेति भावः।

6. ज्ञानोत्पादकत्वमेव हि प्रमाणस्यार्थप्रकाशत्वं नैयायिकैरभ्यु-  
पगम्यते। तच्च ज्ञानमनिश्चितादेव प्रमाणाद् भवति, न  
केवलं प्रमाणाद्, अप्रमाणादप्यनिश्चितादेव ज्ञानं भवति।  
प्रवृत्तिरपि पुरुषस्याभिलाषादिपूर्विकार्थप्राप्त्यनर्थपरिहारलक्षणा  
भवन्ती प्रायेण प्रमाणतदाभासनिश्चयं नापेक्षते किन्तु तथा  
प्रवृत्तौऽर्थप्राप्तिविप्रलम्भाभ्यां सन्दिहानः क्वचिदैकान्ति-  
कार्थप्राप्त्यर्थं प्रमाणनिश्चयमपेक्ष्य प्रेक्षापूर्वकारी प्रवर्तते।

(पृ. 42-43)

## अथ जयन्तभट्टः

न्यायमञ्जरीः प्रथमे भागे (पृ. 147-75) स्वतःप्रामाण्यवादं भाट्टाभिमतं सविस्तरं पूर्वपक्षीकृत्य प्रत्याख्यान-पुरस्सरं परतःप्रामाण्यं स्थापयाम्बभूव। सिद्धान्तस्थापनायाः कतिचिदेवांशा इह पुरस्कृत्यन्ते -

1. प्रत्यक्षादिषु दृष्टार्थेषु प्रमाणेषु प्रामाण्यनिश्चयमन्तरेणैव व्यवहारसिद्धेस्तत्र किं स्वतःप्रामाण्यमुत परत इति विचारेण न नः प्रयोजनम्। अनिर्णय एव तत्र श्रेयान्। अदृष्टे तु विषये वैदिकेषु अगणितद्रविणवितरणादिक्लेशसाध्येषु कर्मसु तत्प्रामाण्यावधारणमन्तरेण प्रेक्षावतां प्रवर्तनमनुचितमिति तस्य प्रामाण्यनिश्चयोऽवश्यं कर्तव्यः। तत्र परत एव वेदस्य प्रामाण्यम्। (न्यामं, भागः 1, पृ. 155)

2. तस्मात् पुरुषगुणदोषाधीनावेव शाब्दे प्रत्यये संवादविसंवादौ। (पृ. 173-74)

3. वेदस्य पुरुषः कर्ता न हि यादृशतादृशः ।  
किन्तु त्रैलोक्यनिर्माणनिपुणः परमेश्वरः ॥  
स देवः परमो ज्ञाता नित्यानन्दः कृपान्वितः ।  
क्लेशकर्मविपाकादिपरामर्शविवर्जितः ॥ (पृ. 175)

इत्थं च कर्तुर्गुणा एव प्रामाण्यस्य प्रयोजका वेदेऽपि। वेदाः प्रमाणं सकलदोषविवर्जितनिखिलगुणागारपरेश्वरकृतत्वादितराप्तवाक्यवदिति।

4. अथ स्वतःप्रामाण्यं भवति (उत्पद्यते) इत्येष पक्ष आश्रीयते सोऽप्ययुक्तः। कार्याणां कारणाधीनजन्मत्वात्, प्रामाण्यस्य च कार्यत्वात्। अस्ति च प्रामाण्यं वस्तु च तद्। न च नित्यमिति कार्यमेव तत्। कार्यं च कार्यत्वादेव न स्वतां भवितुमर्हति। (पृ. 157)

प्रामाण्यस्य कार्यत्वेऽनवसरो विवादः। ज्ञानजनकसामग्रीमात्रजन्यत्वं प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वमित्यवज्ञाय प्रत्याख्यायत इति चिन्त्यमेव।

5. किं पुनरिदं प्रवृत्तिसामर्थ्यं नाम, यतः प्रामाण्यनिश्चयमाचक्षते



नैयायिकाः? उच्यते। पूर्वप्रत्ययापेक्षोत्तरा संविद् प्रवृत्तिसामर्थ्यं विशेषदर्शनं वेति पूर्वाचार्यैस्तत्स्वरूपमुक्तम्। तत् पुनर्नतीव हृदयङ्गममिति भाष्यकृतैव (1/1/1) समीहा प्रवृत्तिरित्युच्यते। सामर्थ्यं पुनरस्याः फलेनाभिसम्बन्ध इति वदतार्थक्रियाख्य-फलज्ञानमेव प्रवृत्तिसामर्थ्यमिति निर्णीतम्। (पृ. 158-59)

6. यत् तु कश्चित् प्राज्ञमानी वदति, अभ्यस्ते विषये स्वतःप्रामाण्यमनभ्यस्ते तु परत इति, सोऽयमभ्यस्ते विषय इति च ब्रवीति स्वतश्च प्रामाण्यं मन्यत इति स्वयमेवात्मानं वाच्यमानं न चेतयते। अभ्यासो हि नाम पुनः पुनः प्रयोगः क्रियाभ्यावृत्तिः। विषयस्य चाभ्यस्तता भूयो भूयः प्रवृत्तिः। अतश्च स्वशरीरग्रहे निजगृहकुड्यस्तम्भादिप्रतिभासे वा सहस्रकृत्वः प्रवृत्तिसंवादज्ञानजन्मा प्रामाण्यनिश्चय उक्तो भवति। स्वतोऽभ्यस्तत्वं चान्यथा न भवेदिति यत्किञ्चिदेतत्। तस्मात् परतःप्रामाण्यमिति सिद्धम्। (पृ. 160)

अभ्यासगृहीतं प्रामाण्यं ज्ञानग्राहकसामग्रीमात्रग्राह्यं न भवति, अभ्यासस्यापि समावेशात्। अभ्यस्तादेव संवादादनुमानेनैव प्रामाण्यनिश्चय इति हृदयम्।

+ + + + +

## अथ नव्यन्यायप्रवर्तको गङ्गेशोपाध्यायः

उत्पत्तौ ज्ञप्तौ च प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वं परतस्त्वं वेति विविञ्चन्  
गङ्गेशोपाध्यायः समग्रतया विषयमुपजग्राह।

तत्र तावदुत्पत्तिविमर्शः

1. उत्पद्यतंऽपि प्रामाण्यं परतो न तु स्वतो ज्ञानसामग्रीमात्रात्।  
तज्जन्यत्वे अप्रमापि प्रमा स्यादन्यथा ज्ञानमपि सा न  
स्यात्। (तत्त्वचिन्तामणिः, प्रत्यक्षखण्डः, पृ. 306)
2. ज्ञानसामग्र्यां दोषानुप्रवेशादप्रमेति चेत् तर्हि ज्ञानविशेषवदप्रमापि  
प्रमाविशेषः स्याज्ज्ञानसामग्रीजन्यत्वात्। तस्मात् प्रमाऽप्रमयोर्वै-  
चित्र्याद् गुणदोषजन्यत्वम्। (पृ. 307)
3. एवमप्रमापि स्वत एव स्यान्न परतः, प्रमावदसाधारणकारणादेव  
तदुत्पत्तौ दोषस्य तत्राहेतुत्वात्। (पृ. 321)
4. अथ ज्ञानसामग्रीसत्त्वेऽपि विशेषादर्शनादिपित्तादेरनुविधानादप्रमायां  
दोषो हेतुरिति चेत् तर्हि विशेषदर्शनिपित्ताद्यभावादितस्तत्रैव  
विषये प्रमा, तदभावान्नेति, प्रमायामागन्तुककारणापेक्षेति  
कथं न परतस्त्वम्? अपि च नियमगर्भः कार्यकारणभावः।  
नियमश्च न व्यक्त्योरेव, व्यभिचारादतिप्रसङ्गाच्चेति  
नियमनिरूपकमनुगुणमनुगतमास्थेयम्। एवं चाप्रमायामिव  
प्रमायामपि तद्व्यावृत्तं कारणमनुगतमास्थेयम्। (पृ. 322)
5. प्रमामात्रे नानुगतो गुणः किन्तु तत्तत्प्रमायां भूयोवयवे-  
न्द्रियसन्निकर्ष-यथार्थलिङ्ग-सादृश्यवाक्यार्थज्ञानानां यथायथं  
प्रत्येकमेव गुणत्वमन्वयव्यतिरेकात्। (पृ. 353)



तत्तदप्रमायां पितादि-लिङ्गभ्रमादीनां दोषत्ववत् प्रत्यक्षे  
विशेषदर्शनमपि गुणः, तदनुविधानात्। (पृ. 359)

ज्ञानजनकसामग्री प्रमाया अप्रमायाश्च साधारणं कारणम्। उत्पत्तौ  
पुनर्गुणदोषावेवासाधारण्यं भजत इत्याशयः।

6. प्राभाकरास्तु प्रामाण्यं स्वत एवोत्पद्यते ज्ञायते चेति। तथा  
हि निष्कम्पप्रवृत्त्यङ्गं स्मृत्यनुभवसाधारणं यथार्थत्वमेव  
प्रामाण्यम्। तच्च ज्ञानमात्रसामग्रीजन्यम्, न तु गुणं दोषाभावं  
वापेक्षते। सर्वज्ञानानां यथार्थत्वेनाव्यभिचारात्। अयथार्थस्तु  
व्यवहारः, तस्यैव बाध्यत्वात्। ज्ञानं तु न बाध्यते,  
बाधकाभिमतज्ञानतुल्यत्वात्। ज्ञाने चायथार्थत्वव्यपदेशो  
विपरीतव्यवहारजननोपाधिकः। (पृ. 386)

अत्र ब्रूमः -

प्रामाण्यनिश्चयो निष्कम्पप्रवृत्तिहेतुर्न तत्संशय इत्यनुभवसिद्धं  
त्वदनुमतं च। तच्च प्रामाण्यं नार्थतथात्वनिश्चयरूपम्।  
अनभ्यासदशापन्नज्ञानस्य स्वप्रकाशनानुव्यवसायेन वार्थतथात्व-  
निश्चयग्रहेऽपि निष्कम्पप्रवृत्त्यभावात् प्रामाण्यसंशयाच्च।  
सर्वधियां यथार्थत्वनियमेनार्थ- तथात्वनिश्चयत्वस्य स्वरूपतो  
विषयतश्चागृहीत- भेदज्ञानद्वय- रूपभ्रमसाधारणत्वात्। तस्मान्  
भ्रमसमानाकारादिदं रजतमिति ज्ञानान्निष्कम्पप्रवृत्तिः किन्तु  
तद्व्यावृत्ताकारात्। (पृ. 399-400)

अन्यथानभ्यासदशापन्नेऽपि तस्य स्वतो ग्रहादप्रामाण्यसंशयो  
न स्यात्। अत एव न ज्ञानसामग्रीत एव प्रामाण्यमुत्पद्यते,  
भ्रमस्यापि तथात्वापत्तेः। (पृ. 403)

अप्रामाण्यसंशयः परतस्त्वस्य प्रयोजक इति भावः।

7. नव्यास्तु अविद्यमानभेदस्याग्रहः प्रामाण्यम्। स चात्यन्ताभावः।  
कदापि तस्य ज्ञानाभावादत्यन्ताभावरूपतया स्वतः सिद्धत्वेन  
प्रामाण्यं स्वत इत्युच्यते। विद्यमानभेदस्याग्रहः अप्रामाण्यम्।

स चाग्रहः प्रागभावः, अग्रे भेदस्य ग्रहात्। भेदग्रहे प्रसक्तं न स जायते दोषादित्युत्तरकालसंसर्गरूपस्य तत्परिपालनस्य दोषजन्यत्वेनाप्रामाण्यं परत उत्पद्यते। विसंवादिसंवादि-विचित्रव्यवहारोऽपि विद्यमानाविद्यमानभेदाग्रहरूप-विलक्षण-हेतुक एव। व्यवहारोपयुक्तं तु प्रामाण्यं यथार्थत्वमेव। तच्च ज्ञानहेतुमात्रहेतुकम्। अप्रामाण्यं दोषात्। अनभ्यासदशापन्ने प्रामाण्यसंशयोऽपि विद्यमाना-विद्यमानभेदाग्रह-कोटिद्व-यावलम्बी। स एव निष्कम्पप्रवृत्तिप्रतिबन्धक इति।  
(पृ. 403-4)

त इमे प्राभाकरैर्दत्तहस्तावलम्बा भेदाख्यातिमाश्रयमाणा व्याचख्युः। तथा व्याख्यानेन कथंचिन्न्यायमतपरिपालनमपि दृश्यते। सेयं किल परतण्डुलैः पक्वा कृशरेति प्रतिभातीति न रोचते - नैतेन स्वतःप्रामाण्यं समर्थयितुं शक्यत इत्याह ---

तन्न । निष्कम्पप्रवृत्तिहेतुर्हि प्रामाण्यं ग्राह्यं न त्वन्यत्। निष्प्रयोजनत्वात्। तच्च यद्यपि अविद्यमानभेदाग्रहरूपं तदा तन्न स्वतो ज्ञातुं शक्यते। अविद्यमानभेदग्रहस्य तत्प्रतियोगिनोऽसत्त्वात्। प्रागनुपस्थितेश्च, अनभ्यासदशायां ज्ञाने ज्ञातेऽप्यविद्यमानभेदाग्रहे संशयाच्च। (पृ. 405)

8. एतेनौत्सर्गिकः संसर्गग्रह एव प्रामाण्यमसंसर्गाग्रह एवाप्रामाण्यमिति निरस्तम्। संसर्गग्रहत्वस्य स्वेन ग्रहीतुम-शक्यत्वात्। शक्यत्वे वानभ्यासदशायामपि तद्ग्रहे तत्संशयो न स्यात्। तस्माद् भ्रमव्यावृत्तं निष्कम्पप्रवृत्तिहेतुः प्रामाण्य-मगृहीतसंसर्गधर्मधर्मिविषयकैकज्ञानत्वरूपं विशिष्टज्ञानत्वं संसर्गज्ञानत्वं वा अविद्यमानभेदाग्रहत्वं वा स्वतो ज्ञातुं न शक्यते किन्तु विशेषदर्शनादिजन्यज्ञानादवधार्यत इति वज्रलेपायितं परतःप्रामाण्यमित्युत्पत्तिवादः। (पृ. 407)



अथ ज्ञप्तिविमर्शे पूर्वपक्षः -

1. तद्वति तत्प्रकारकज्ञानत्वं तद्वति तद्वैशिष्ट्यज्ञानत्वं वा प्रामाण्यम्। तन्निश्चयादेव निष्कम्पव्यवहाराल्लाघवात्, नान्यद्, गौरवात्। तच्च ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यमेव। तथा हि विशेष्ये तद्धर्मवत्त्वं तद्धर्मप्रकारकत्वं च व्यवसायस्यानुव्यवसायेनानुमित्या स्वंप्रकाशेन वा गृह्यते। विषयनिरूप्यं हि ज्ञानम्। अतो ज्ञानवित्तिवेद्यो विषय इति व्यवसाये भासमाने धर्मधर्मिवत् तद्वैशिष्ट्यमपि विषयः, व्यवसायरूपप्रत्यासत्तेस्तुल्यत्वात्। (पृ. 177-78)
2. अत एवाप्रमापि प्रमेति गृह्यते। अनुव्यवसायस्य ध्रुमविषयवैशिष्ट्यविषयत्वात्। न च न प्रामाण्यं प्रथमतो ज्ञातमिति न तदारोपः स्यादिति वाच्यम्, प्रामाण्यस्य ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वेन ज्ञानवित्तिवेद्यत्वात्। अभावप्रतीतौ प्रतियोगित्वाभावत्वयोरिव। (पृ. 180-81)
3. तदभाववति तत्प्रकारकज्ञानत्वमप्रामाण्यं परतो ज्ञायते। तदभाववत्त्वस्य ध्रमानुल्लिखितत्वेनानुव्यवसायाविषयत्वात्। न चैवमनुव्यवसायस्य यावद्व्यवसायविषय-विषयकत्वे ध्रान्तध्रान्तिज्ञसंकर इति वाच्यम्, बाधानवतारदशायां तस्येष्टत्वात्। तदवतारे तस्यैव (बाधज्ञानस्यैव) प्रतिबन्धकत्वात्। (पृ. 181-82)

अथ ज्ञप्तौ सिद्धान्तपक्षः -

1. सिद्धान्तस्तु प्रामाण्यस्य स्वतोग्रहेऽनभ्यासदशोत्पन्ने ज्ञाने तत्संशयो न स्यात्, ज्ञानग्रहे प्रामाण्यनिश्चयात्। अनिश्चये वा न स्वतः प्रामाण्यग्रहः। ज्ञानाग्रहे धर्मिज्ञानाभावान्न संशयः। (पृ. 187)
2. अनभ्यासदशापन्नं ज्ञानं न स्वाश्रयग्राह्यं स्वाश्रयातिरिक्तग्राह्यं

वा, स्वाश्रये सत्यपि तदुत्तरतृतीयक्षणवृत्तिसंशयविषयत्वाद्,  
अप्रामाण्यसंशयजन्यसंशयाविषयत्वाद् वा, अप्रामाण्यवत्।  
(पृ. 211-14)

असत्यप्रामाण्यसंशयजन्य-प्रामाण्यसंशये प्रामाण्याप्रामाण्ययोः परत एव  
ज्ञप्तिः। परत इत्यर्थक्रियाप्रयोजकाप्रयोजकाभ्यामनुमानाभ्याम्। तच्चानुमानं  
बाह्यार्थसंवादविसंवादाभ्यां प्रसरतीत्याशयः।

3. प्रथमं च प्रामाण्यज्ञानं व्यतिरेकिणा। ननु प्रामाण्यप्रसिद्धिं  
विना व्याप्यग्रहात् कथमनुमानम्? (पृ. 243)

प्राग्भवीयसंस्काराद् विशेष्यावृत्यप्रकारकत्वं तद्वति तत्प्रकारक-  
ज्ञानत्वं वा प्रामाण्यमात्रं स्मृतं वह्निज्ञानादौ साध्यमानं  
(तदिति) सर्वनाममहिम्ना पक्षधर्मताबलाद् वह्निज्ञानस्य  
विशेष्यावृत्यप्रकारकत्वादौ पर्यवस्यति। स्वतः प्रामाण्यनिषेधे  
प्राथमिकप्रामाण्यज्ञानस्यान्यथोपपादयितुमशक्यत्वादिति  
सम्प्रदायविदः। (पृ. 251)

4. वयं तु ब्रूमः। प्रथमप्रामाण्याभाव एव प्रामाण्यं व्यतिरेकिणा  
साध्यम्। तत एव निष्कम्पप्रवृत्तेरुपपत्तेः। (पृ. 253)

अत्रेदमवधेयम्। अनवस्थां परिहर्तुं व्यवहारस्यानादितामभ्युपेयाय वाचस्पतिः।  
सम्प्रदायविद इति तस्यैवोल्लेखः। असार्वत्रिकतां प्रामाण्यनिश्चयस्य  
स्वीकृत्योदयनाचार्यः समादधौ। प्रवृत्तिजनकत्वेनैव शङ्कानिवृत्तिः  
प्रामाण्यनिश्चयश्चेति नानवस्थेति भासर्वज्ञः। मणिकारस्तु प्रथमतः  
अप्रामाण्याभावनिश्चयः, स एव प्रामाण्यमिति स्वीकृत्याभ्या-  
सदशायामन्वयव्यतिरेकिणा प्रामाण्यनिश्चयं मेने।

5. यावज्ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वं यावत्स्वाश्रयग्राहकग्राह्यत्वं  
तज्ज्ञानविषयक-जन्यज्ञानजन्य- जन्यज्ञानग्राह्यत्वं वा  
स्वतस्त्वम्। तदन्यथाग्राह्यत्वं तु परतस्त्वम्। मनसा चैवं  
प्रामाण्यग्रहस्याभ्युपगमे तज्ज्ञानविषयक-जन्यज्ञान-  
जन्यज्ञानग्राह्यत्वान्न परतस्त्वहानिः। व्यतिरेक्यनन्तरं



तज्जातीयत्वेनान्वयिना ग्राह्यत्वान्न प्रामाण्यानुमानम्  
(पौनःपुन्येन)। यथेदं शरीरज्ञानं प्रमा करचरणवति  
शरीरज्ञानत्वात् स्वशरीरज्ञानवत्। (पृ. 291-92)

6. वस्तुतस्तु परतः- पक्षे न क्वचिदपि प्रामाण्यग्रहः प्रवर्तक  
इति। एवमनुव्यवसायस्य प्रामाण्यनियतत्वान्न प्रामाण्यशङ्का।  
न ह्यज्ञानञ्जानामीति प्रत्येति, न वा घटज्ञाने पटं जानामीति।  
भ्रमेऽप्यनुव्यवसायेन रजतत्वादिकं व्यवसायप्रकारत्वेनोल्लिख्यते,  
तच्च तथैव। (पृ. 300-1)

तत्र विश्वनाथपञ्चाननः -

दोषोऽप्रमाया जनकः प्रमायास्तु गुणो भवेत् ।  
पित्तदूरत्वादिरूपो दोषो नानाविधो मतः ॥  
प्रत्यक्षे तु विशेष्येण विशेषणवता समम् ।  
सन्निकर्षो गुणस्तु स्यादथ त्वनुमितौ पुनः ॥  
पक्षे साध्यविशिष्टे तु परामर्शो गुणो भवेत् ।  
शक्ये सादृश्यबुद्धिस्तु भवेदुपमितौ गुणः ॥  
शाब्दबोधे योग्यतायास्तात्पर्यस्याथवा प्रमा ।  
गुणः स्याद् भ्रमभिन्नं तु ज्ञानमत्रोच्यते प्रमा ॥  
(न्यायसिद्धान्तमुक्तावली 131-34)

+ + + + +

गुणस्य प्रमाजनकत्वं त्वनुमानात् सिद्धम्। यथा प्रमा  
ज्ञानसामान्यकारणभिन्नकारणजन्या जन्यज्ञानत्वादप्रमावत्।  
(तत्रैव)

+ + + + +

न च दोषाभाव एव कारणमस्त्विति वाच्यम्, पीतःशङ्ख इति ज्ञानस्थलेऽपि पित्तरूपदोषसत्त्वाच्छङ्खप्रमानुत्पत्तिप्रसङ्गात्। विनिगमनाविरहादनन्तदोषाभावकारणत्वमपेक्ष्य गुणस्य कारणताया न्याय्यत्वात्। न च गुणसत्त्वेऽपि पित्तेन प्रतिबन्धाच्छङ्खे न श्वैत्यज्ञानमतः पित्तादिदोषाभावानां कारणत्वमवश्यं वाच्यम्, तथा च किं गुणस्य हेतुत्वकल्पनेनेति वाच्यम्। तथाप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां गुणस्यापि हेतुत्वसिद्धेः। एवं भ्रमं प्रति गुणाभावः कारणमित्यस्यापि सुवचत्वात्। (तत्रैव)

+ + + + +

मीमांसका हि प्रमात्वं स्वतो ग्राह्यमिति वदन्ति। तत्र गुरूणां मते संविदः स्वप्रकाशकत्वात् तज्ज्ञानप्रामाण्यं तेनैव गृह्यत इति। भाट्टानां मते ज्ञानमतीन्द्रियम्, ज्ञानजन्यज्ञातता प्रत्यक्षा, तथा च ज्ञानमनुमीयते। मुरारिमिश्राणां मतेऽनुव्यवसायेन ज्ञानं गृह्यते। सर्वेषामपि मते तज्ज्ञानविषयकज्ञानेन तज्ज्ञानप्रामाण्यं गृह्यते। ..... यदि ज्ञानस्य प्रामाण्यं स्वतो ग्राह्यं स्यात् तदानभ्यासदशापन्नज्ञाने प्रामाण्यसंशयो न स्यात्। तत्र हि यदि ज्ञानं ज्ञातं तदा त्वन्मते प्रामाण्यं ज्ञातमेवेति कथं संशयः? यदि तु ज्ञानं न ज्ञातं तर्हि धर्मिज्ञानाभावात् कथं संशयः? तस्माज्ज्ञाने प्रामाण्यमनुमेयम्। (तत्रैव 136)

+ + + + +

अन्नंभट्टः सञ्चिक्षेप -

1. ज्ञानप्रामाण्यं तदप्रामाण्याग्राहक-यावज्ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यं न वेति। अत्र विधिकोटिः स्वतस्त्वं निषेधकोटिः परतस्त्वम्। ..... तस्मिन् ग्राह्यप्रामाण्याश्रये अप्रामाण्यग्राहिकेत्यर्थः।



उदाहृतस्थले व्यवसायाप्रामाण्यग्राहकस्याप्यनुव्यवसाये  
तद्ग्राहकत्वात् स्वतस्त्वसिद्धिः। (तर्कसंग्रहदीपिका,  
प्रामाण्यवादः)

2. ननु स्वत एव प्रामाण्यं गृह्यते। घटमहं जानामीत्यनुव्यवसायेन  
घटघटत्वयोरिव तत्सम्बन्धस्यापि विषयीकरणाद्  
व्यवसायरूपप्रत्यासत्तेस्तुल्यत्वात् पुरोवर्तिनि प्रकारसम्बन्धस्यैव  
प्रमात्वपदार्थत्वादिति चेन्न। स्वतःप्रामाण्यग्रहे जलज्ञानं प्रमा  
न वेत्यनभ्यासदशायां प्रमात्वसंशयो न स्यात्, अनुव्यवसायेन  
प्रामाण्यस्य निश्चितत्वात्। तस्मात् स्वतो ग्राह्यत्वाभावात्  
परतो ग्राह्यत्वमेव। (तत्रैव)
3. तथा हि प्रथमं जलज्ञानानन्तरं प्रवृत्तौ सत्यां जललाभे  
सति पूर्वोत्पन्नं जलज्ञानं प्रमा, सफलप्रवृत्तिजनकत्वाद्,  
यन्नैवं तन्नैवं यथा अप्रमेति व्यतिरेकिणा प्रमात्वं निश्चीयते।  
द्वितीयादिज्ञानेषु पूर्वज्ञानदृष्टान्तेन तत्सजातीयत्वलिङ्गेनान्व-  
यव्यतिरेकिणाऽपि गृह्यते। (तत्रैव)
4. पुरोवर्तिनि प्रकाराभावस्यानुव्यवसायेनानुपस्थितत्वादप्रमात्वं परत  
एव गृह्यते। पितादिदोषजन्यत्वमुत्पत्तौ परतस्त्वम्। (तत्रैव)

एवं गुणजन्यत्वं प्रमात्वस्योत्पत्तौ परतस्त्वमिति शेषः।

5. ननु सर्वेषां ज्ञानानां (प्रभाकरमते) यथार्थत्वादयथार्थज्ञानमेव  
नास्तीति। न च शुक्ताविदं रजतमिति ज्ञानात् प्रवृत्तिदर्शनाद-  
न्यथाख्यातिसिद्धिरिति वाच्यम्, रजतस्मृतिपुरोवर्तिज्ञानाभ्यामेव  
प्रवृत्तिसम्भवात्। स्वतन्त्रोपस्थितेष्टभेदाग्रहस्यैव सर्वत्र  
प्रवर्तकत्वेन नेदं रजतमित्यादावतिप्रसङ्गाभावादिति चेन्न।  
सत्यरजतस्थले पुरोवर्तिविशेष्यक-रजतत्व-प्रकारकज्ञानस्य  
लाघवेन प्रवृत्तिजनकतया शुक्तावपि रजतार्थिप्रवृत्तिजनकत्वेन  
विशिष्टज्ञानस्यैव कल्पनात्। (तत्रैव)

## अन्ते केशवमिश्रः

1. जलादिज्ञानं जाते तस्य प्रामाण्यमवधार्य कश्चिज्जलादौ प्रवर्तते। कश्चित् तु सन्देहादेव प्रवृत्तः प्रवृत्त्युत्तरकाले जलादिप्रतिलम्भे सति प्रामाण्यमवधारयतीति वस्तुगतिः।  
(तर्कभाषा, पृ. 17)

2. अत्र कश्चिदाह. प्रागेव प्रवृत्तेः प्रामाण्यमवधार्य पुरुषः प्रवर्तते, स्वत एव प्रामाण्यावधारणात्। अस्यार्थः, येनैव यज्ज्ञानं गृह्यते तेनैव तदगतं प्रामाण्यमपि। न तु ज्ञानग्राहकादन्यज्ज्ञानधर्मस्याप्रामाण्यस्य ग्राहकम्। तेन ज्ञानग्राहकानपेक्षत्वं स्वतस्त्वं प्रामाण्यस्य। ज्ञानं च प्रवृत्तेः पूर्वमेव गृहीतं कथमन्यथा प्रामाण्याप्रामाण्यसन्देहोऽपि स्यात्? अनधिगते धर्मिणि सन्देहानुदयात्। तस्मात् प्रवृत्तेः पूर्वमेव ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूतयार्थापत्त्या ज्ञाने गृहीते ज्ञानगतं प्रामाण्यमप्यर्थापत्यैव गृह्यते। ततः पुरुषः प्रवर्तते। न तु प्रथमं ज्ञानमात्रं गृह्यते, ततः प्रवृत्त्युत्तरकाले फलदर्शनेन ज्ञानस्य प्रामाण्यमवधार्यते।  
(पृ. 17-18)

3. अत्रोच्यते। ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूतयार्थापत्त्या ज्ञानं गृह्यते इति यदुक्तं तदेव वयं न मृष्यामहे। तया प्रामाण्यग्रहस्तु दूरत एव। तथा हीदं किल परस्याभिमतम्, घटादिविषये ज्ञाने जाते मया ज्ञातोऽयं घट इति घटस्य ज्ञातता प्रतिसन्धीयते। तेन ज्ञाने जाते सति ज्ञातता नाम कश्चिद् धर्मो जात इत्यनुमीयते। स च ज्ञानात् पूर्वमज्ञातत्वाज्ज्ञाने जाते च जातत्वादन्वयव्यतिरेकाभ्यां ज्ञानेन जन्यत इत्यवधार्यते। एवं च ज्ञानजन्योऽसौ ज्ञातता नाम धर्मो ज्ञानमन्तरेण नोपपद्यते, कारणाभावे कार्यानुदयात्। तेनार्थापत्त्या स्वकारणं ज्ञानं ज्ञातत्वाक्षिप्यत इति। न चैतद् युक्तम्। ज्ञानविषयतातिरिक्ताया ज्ञातताया अभावात्। (पृ. 18)



4. ननु ज्ञानजनितज्ञातताधारत्वमेव हि घटादेर्ज्ञानविषयत्वम्। तथा हि न तावत् तादात्म्येन विषयता, विषयविषयिणोर्घट-ज्ञानयोस्तादाम्यानभ्युपगमात्। तदुत्पत्त्या तु विषयत्वे इन्द्रियादेरपि विषयत्वापत्तिः, इन्द्रियादेरपि तस्य ज्ञानस्योत्पत्तेः। तेनेदमुमीयते, ज्ञानेन घटे किञ्चिज्जनितं येन घट एव तस्य ज्ञानस्य विषयो नान्य इति। अतो विषयत्वान्यथानुपपत्तिप्रसूतयार्थापत्त्यैव ज्ञाततासिद्धिः, न तु प्रत्यक्षमात्रेण। मैवम्। स्वभावादेव विषयविषयितोपपत्तेः। अर्थज्ञानयोरेतादृश एव स्वाभाविको विशेषो येनानयोर्विषयविषयिभावः। इतरथातीतानागतयोर्विषयत्वं न स्यात्, ज्ञानेन तत्र ज्ञातताजननासम्भत्। असति धर्मिणि धर्मजननायोगात्। (तत्रैव)
5. किं च ज्ञातताया अपि स्वज्ञानविषयत्वात् तत्रापि ज्ञाततान्तरप्रसङ्गः। तथा चानवस्था। अथ ज्ञाततान्तर-मन्तरेणापि स्वभावादेव विषयत्वं ज्ञाततायाः, एवं चेत् तर्हि घटादावपि किं ज्ञाततयेति। अस्तु वा ज्ञातता, तथापि तन्मात्रेण ज्ञानं गम्यते ज्ञातताविशेषेण प्रमाणज्ञानाव्यभिचारिणा ज्ञानप्रामाण्यमिति कुत एव ज्ञानग्राहकग्राह्यता प्रामाण्यस्य? अथ केनचिज्ज्ञातताविशेषेण प्रमाणज्ञानाव्यभिचारिणा ज्ञानप्रामाण्ये सहैव गृह्यते, एवं चेदप्रामाण्येऽपि शक्यमिदं वक्तुम्, केनचिज्ज्ञातताविशेषेणा-प्रमाणज्ञानाव्यभिचारिणा ज्ञानाप्रामाण्ये सहैव गृह्यते इत्यप्रामाण्यमपि स्वत एव गृह्यताम्। (तत्रैव)
6. अथैवमप्यप्रामाण्यं परतस्तर्हि प्रामाण्यमपि परत एव गृह्यताम्, ज्ञानग्राहकादन्यत इत्यर्थः। ज्ञानं हि मानसप्रत्यक्षेणैव गृह्यते, प्रामाण्यं पुनरनुमानेन। तथा हि जलज्ञानानन्तरं जलार्थिनः प्रवृत्तिर्द्वेधा फलवत्यफला चेति। तत्र या फलवती प्रवृत्तिः सा समर्था। तथा तज्ज्ञानस्य याथार्थ्यलक्षणं प्रामाण्यमुमीयते। (पृ. 19)

7. प्रयोगश्च, विवादाध्यासितं जलज्ञानं प्रमाणम्, समर्थ-  
प्रवृत्तिजनकत्वाद्, यन्न प्रमाणं न तत् समर्था प्रवृत्तिं  
जनयति, यथा प्रमाणाभास इति केवलव्यतिरेकी। अत्र च  
फलवत्प्रवृत्तिजनकं यज्जलज्ञानं तत् पक्षः। तस्य प्रामाण्यं  
साध्यम्, यथार्थत्वमित्यर्थः। न तु प्रमाकरणत्वम्, स्मृत्या  
व्यभिचारापत्तेः। हेतुस्तु समर्थप्रवृत्तिजनकत्वम्,  
फलवत्प्रवृत्तिजनकत्वमिति यावत्। (तत्रैव)

8. अनेन तु केवलव्यतिरेक्यनुमानेनाभ्यासदशापन्नस्य ज्ञानस्य  
प्रामाण्येऽवबोधिते तदुद्घातनेन जलप्रवृत्तेः पूर्वमपि तज्जातीयत्वेन  
लिङ्गेनान्वयव्यतिरेक्यनुमानेनान्यस्य ज्ञानस्यानभ्यासदशापन्नस्य  
प्रामाण्यमनुमीयते। तस्मात् परत एव प्रामाण्यं न ज्ञानग्राहकेणैव  
गृह्यत इति। (तत्रैव)

अत्राभ्यासानभ्यासयोर्विपर्ययेण प्रयोगो दृश्यते। स च यथापेक्षं व्याख्यानमर्हति।  
उत्पत्तौ परतस्त्वस्य विचारो बाहीकतां नीत इति यत्किञ्चिदेतत्।

+ + + + +



## उपसंहारः

मुख्यतया प्राभाकर-भाट्ट-नैयायिकप्रस्थानेषु वैमत्यं परां कोटिमधिरोहति। श्रीहरिरामतर्कवागीशः स्वकीये प्रामाण्यवादे नाम ग्रन्थे यथायथं व्यवृणुत। तत एव कतिचनांशा इहावतार्यन्ते ---

1. अत्र गुरुमतानुयायिनो ज्ञानं नानुव्यवसायग्राह्यं किन्तु स्वयमेव स्वं गृह्णाति। तावतैव स्वविषयकव्यवहारादि- रूपकार्योपपत्ते- ज्ञानविषयकज्ञानान्तरकल्पने प्रमाणाभावात्। स्वस्मिन् गृह्यमाणे ज्ञानत्वादिरूपस्ववृत्तिधर्मवत् स्ववृत्तिप्रामाण्यमप्यसति प्रतिबन्धके स्वयमवगाहते। (प्रामाण्यवाद, पृ. 7-8)
2. भट्टमते तु ज्ञाततालिङ्गकानुमितिग्राह्यत्वमेव प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वम्। तथा हि घटत्वप्रकारकज्ञानानन्तरमयं घटत्वेन ज्ञात इत्याद्याकारकश्चाक्षुषादिप्रत्ययः सर्वजनानुभवसिद्धः। स च न घटत्वादिप्रकारकज्ञानविषयत्वावगाही, चक्षुरादेर्ज्ञाना- ग्राहकत्वात्। न च ज्ञानस्य चक्षुराद्ययोग्यत्वेऽपि अनुव्यवसायो- पनीतभानं चक्षुरादितो निर्वहत्येवेति वाच्यम्। ज्ञानस्याती-न्द्रियतयानुव्यवसायस्यैवाभावात्। यतयाज्ञान- लक्षणायाः प्रत्यासत्तित्वासिद्धेस्तद्वत्ताज्ञानभानासम्भवाच्च। (पृ. 103-4)
3. नैयायिकमतानुयायिनः, प्रथमानुव्यवसायस्य प्रामाण्यग्राहकत्वे व्यवसायतृतीयक्षणे तद्धर्मिकप्रामाण्यसंशयानुपपत्तिरित्यनायत्या प्रामाण्यप्रत्यक्षं प्रति प्रामाण्यज्ञानत्वेन हेतुता कल्प्यते, अतो न प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वम्। ..... विशिष्टप्रामाण्यग्रहं विना विशेष्ये विशेषणमिति न्यायेनापि प्रामाण्यप्रत्यक्षा- नभ्युपपगमात् (इत्युचुः)। (पृ. 53-54)

अत एव चिन्तामणिकृता प्रामाण्यरूपविशिष्टसाध्योपस्थितिं  
 विना व्याप्तिग्रहासम्भवेन कथं प्रामाण्यानुमितिरिति  
 पूर्वपक्षमाशङ्क्य प्राग्भवीयसंस्काराधीनप्रामाण्यस्मरणमूलक-  
 व्याप्तिग्रहात् प्रामाण्यानुमितिरिति साम्प्रदायिकसिद्धान्तो दर्शितः।  
 स्वयं चाप्रसिद्धसाध्यपरामर्शदिप्रामाण्याभावस्य- प्रामाण्यविशेष्य-  
 कानुमानं प्रथमम्, तदनन्तरं च बद्धित्वाभावादविशेष्यकत्वं  
 सति सविशेष्यकत्वेन हेतुना बद्धित्वप्रकारकत्वादिरूप-  
 पक्षतावच्छेदकविशिष्टे वह्न्यादिविशेष्यकत्वानुमानमिति  
 सिद्धान्तितम्। (पृ. 54-56)

गङ्गेशोपाध्यायस्याभिमतमित्थं प्रतिभाति। पूर्वजन्मनोऽस्पष्टाः  
 संस्कारा व्याप्तिस्मरणाय न पर्याप्त्युयुः। न च सर्वेषां वादिनां तत्र  
 सम्मतिः सम्भवति। यावत् प्रामाण्यमनिश्चितं तावत् तत्, पक्षीकृत्य  
 प्रामाण्यत्वं नतरां सिध्येत्, अतः प्रामाण्यानुमितिरसम्भविनी। समाधानं  
 चेत्थम्, प्रामाण्यस्याज्ञातत्वेन प्रथमतस्तावदप्रामाण्याभावरूपमेव प्रामाण्यं  
 पक्षतां नीत्वा खल्वप्रसिद्धं प्रामाण्यत्वरूपं साध्यं परामृश्यते। अनन्तरं  
 प्रमा चाप्रमा चानुमीयेते यथायथम् -- “इदं जलज्ञानमप्रमात्वाभाववत्,  
 समर्थप्रवृत्तिजनकत्वाद्; यन्नैवं तन्नैवम्, यथा सैकते जलज्ञानम्” इत्यादि।  
 अभ्यासदशायां त्वन्वयव्यतिरेकौ सुलभौ। अत्रापि किमप्रामाण्यमिति  
 यावन्न ज्ञायते तावद् दुःसमाधानमेव।

+ + + + +

ननु प्रामाण्याप्रामाण्यनिश्चयात् पूर्वं किंस्वरूपं ज्ञानं स्याद् यस्य  
 प्रामाण्याप्रामाण्ये यथास्वं परस्तादनुमानेन निश्चीयेते इति प्रश्नः परतस्त्ववादिनं  
 प्रति किञ्चिदुद्देजकं भवेत्। उच्यते। नैयायिकनव्या ज्ञानलक्षणया प्रत्यासन्ना  
 किमप्यलौकिकं प्रत्यक्षज्ञानं कल्पयन्ति यत् प्रामाण्याप्रामाण्यसीमानमतिशतं।  
 तदेवालौकिकं ज्ञानं यदा लौकिकं व्यवहारमवगाहते तदैवानुमानस्यावमर  
 इति प्रत्यक्षीया व्यवस्था। प्रत्यक्षेतरज्ञानं तु लौकिकमेव संशयाकुलं मत्  
 परतःप्रामाण्यं प्रतीक्षत इति।



आस्तां तावत्। संशयो नामाप्रमात्मकं ज्ञानं न स्वमपेक्ष्य  
संशयान्तरं गाहते। तदप्रामाण्यं स्वत एव परतो वा। आद्ये स्वतस्त्वस्वीकारः,  
द्वितीये संशयानवस्था स्यादत्यन्तसंशयो वा। अत्र ब्रूमः। संशयस्य  
तादृशी चिन्तैव न क्रियते, परतस्त्वस्य संशयाधीनयोगक्षेमत्वात्।  
स्वतस्त्ववादिनस्तु तस्याप्रामाण्यं स्वतो मत्वा मोदेरन्निति दिक्।

---





ख्यातिवादः





## ख्यातिवादविमर्शः

ख्यातिवादाः किल प्रामाण्यवादाननुरुन्धाना एव विचारसरणि-  
मवतरन्ति यत्र प्रमाणीभूतप्रत्यक्षस्य तद्विपर्ययस्य भ्रमरूपस्य च विवेकः  
क्रियते। तत्र खलु दर्शनभेदेन ख्यातिवादस्य स्वरूपं भिद्यते। अत्र  
वादः सिद्धान्तपर्यायः ख्यातिश्चेन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यज्ञानं ब्रूते।

ननु ख्यातिशब्दस्य मौलोऽर्थः क इति चेद् उच्यते। 'ख्या  
प्रकथने' धातोः स्त्रियां भावे क्तिनि प्रत्यये सति 'ख्याति' शब्दो  
निष्पन्नः प्रसिद्धिं कीर्तिं चार्थं प्रतिपादयति (अमर 3/2/9) दर्शनशास्त्रेपु  
पुनरसौ ज्ञानमात्रमर्थं ददाति प्रमामप्रमां च। तथा च यांगशास्त्रे (2/26.  
4/29) अप्रमातः पृथक्करणाय विवेकख्यातिरिति प्रयुज्यते। तत्रैव  
विवरणे शङ्करभगवत्पादैः सम्यक्ख्यातिपदेन तद्व्याख्या कृता।  
महाकविर्माघः खलु श्लोकयामास ---

ख्यातिं च सत्त्वपुरुषान्यतयाधिगम्य

वाञ्छन्ति तामपि समाधिभूतो निरोद्धुम् ॥

(शिशुपालवधे 4/55)

अयं शब्दः प्रकाशं ज्ञानापरपर्यायमपि ब्रवीति। तथा हि---

अख्यातिर्यदि न ख्याति ख्यातिरेवावशिष्यते।

ख्याति चेत् ख्यातिरूपत्वात् ख्यातिरेवावशिष्यते।।

(क्षेमराजस्य प्रत्यभिज्ञाहृदये 4)

अत्र विचारणायां प्रमाप्रत्यक्षं तद्विपर्ययं च प्रतिपादयन्नेष शब्दो व्यावहारिकस्य भ्रमस्यैव व्याख्यानं पुरःसारयन् प्रामाण्याप्रामाण्य-योर्भूमिमुर्वरयति।

### ख्यातिवादभेदाः

विवेकपर्यायः ख्यातिशब्दो ज्ञानमीमांसायां सविकल्पकप्रत्यक्षमभिधत् इत्यवोचम्। सविकल्पक एव प्रत्यक्षे प्रामाण्यं निश्चीयते, न निर्विकल्पके। तथा हि ---

न प्रमा नापि भ्रमः स्यान्निर्विकल्पकम् ॥ (न्यामु 135)

दर्शनशास्त्रेषु सविकल्पकं प्रत्यक्षमधिकृत्य यानि मतानि सन्ति तान्येव ख्यातिवादनाम्ना विचार्यन्ते, यत्र भ्रमात्मकस्य इन्द्रियजन्यज्ञानस्य प्राधान्यम्। भ्रमनिरसनद्वारेणैव हि प्रमात्वस्य निर्णयः सम्भवतीति। एवं चानुव्यवसायेन प्रामाण्येन च ख्यातिवादः साक्षात् सम्बध्यते। अत्र पञ्च ख्यातिवादाः प्रसिद्धिं गताः ---

आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा।

तथाऽनिर्वचनख्यातिरित्याहुः ख्यातिपञ्चकम्॥

योगाचारा माध्यमिकास्तथा मीमांसका अपि।

नैयायिका मायिनश्च पञ्च ख्यातीः क्रमाज्जगुः॥ (न्याको)

अत्यल्पमिदमुच्यते। सन्ति बहवोऽन्ये ख्यातिवादाः। तद् यथा---

1. चार्वाका असंकीर्णतया सन्त्यख्यातिवादिनः। तेहि चतुर्भूतरचिते शरीरे मदशक्तिवच्चैतन्यं स्वीकुर्वन्ति। अपि च ते निरालम्ब-ख्यातिवादिनो निर्विषयख्यातिवादिनश्च निगद्यन्ते।

2. विज्ञानवादिनो निर्विषयख्यातिं निरालम्बनख्यातिं चाभ्युपयन्ति, शून्यवादिनोऽपि तथा। शून्यवादिनां किल ख्यातिरसत्ख्यातिरिति विज्ञानवादिनां चात्मख्यातिर्वा स्वख्यातिर्विज्ञानाकारख्यातिर्वैति कथ्यते।



3. सांख्ययोगयोः सदसत्ख्यातिः क्वचित् प्रसिद्धार्थख्यातिरपि प्रोच्यते।
4. वैशेषिके पातञ्जलदर्शने जैनदर्शने च विपरीतख्यातिवादः स्थाप्यते। नैयायिका अपि तथाभ्युपयन्ति।
5. विपरीतख्यातिवाद एवान्यथाख्यातिवादनाम्ना न्यायदर्शने भाट्टमीमांसायां चाङ्गीकृतः।
6. विवेकाख्यातिः खलु कौमारिलानां प्राभाकराणां च सामान्यः सिद्धान्तः किन्तु अख्यातिर्नाम प्राभाकराणां मत एव व्यवहियते।
7. मण्डनमिश्राः स्वमीमांसायामभेदख्यातिं पुरस्कुर्वन्ति।
8. नैयायिका भाट्टमीमांसैकदेशिनश्च ज्ञानलक्षणामलौकिक-प्रत्यासत्तिं स्वीकुर्वन्तो भ्रमं व्याचख्युरिति ते क्वचिदलौकिक-ख्यातिवादिनोऽपि निगदिताः।
9. व्याकरणदर्शने बुद्धिसत्ख्यातिरभ्युपेता।
10. अद्वैतवेदान्तिनः किलानिर्वचनीयख्यातिवादिनः सन्त्येव।
11. प्राभाकर-मीमांसादर्शने विशिष्टाऽद्वैतवेदान्ते च यथार्थैव ख्यातिर्न क्वचिदयथार्थेति कृत्वा क्रमेण 'अख्यातिः' इति 'सत्ख्यातिः', इति च निगद्येते।
12. शुद्धाद्वैतवेदान्तिनः किल अन्यख्यातिवादिनः।
13. प्रत्यभिज्ञाशैवदर्शने व्यावहारिकीषु ख्यातिषु सङ्कुचित-ख्यातिवादोऽभ्युपेयते। परमार्थदृशा तु प्रत्यभिज्ञाया अभावमख्यातिं निगदन्ति। सत्ख्यातिवाद एवेह नामान्तरेण किञ्चिदिव रूपान्तरेण च गृह्यते।
14. अख्यातिशब्दः खलु ख्यातिवाद-सन्दृब्धः सन्नर्थवैविध्य-माप्नोति। तद् यथा बौद्धाः सविकल्पकप्रत्यक्षमप्रमात्वेन

स्थापयन्तीति तन्मते सविकल्पाभाव एवाख्यातिः।  
 आत्मज्ञानरूपामद्वैतख्यातिमेव परमार्थं मन्वानाः खलु  
 अद्वैतवेदान्तिनां मूलाविद्याजन्यं व्यावहारिकं तूलाविद्याजन्यं  
 च प्रातिभासिकं प्रत्ययमेवाख्यातिं स्वीकुर्वन्ति। तत्र हि  
 परमार्थ-साक्षात्कार एव ख्यातिर्नाम। मीमांसादर्शने तु  
 असंसर्गाग्रहार्थको वा विवेकाख्यातिपर्यायो वा 'अख्याति'  
 शब्दः प्रयुज्यते। प्रत्यभिज्ञादर्शनेऽपि अद्वैतवेदान्त-  
 वेदवाद्वैतावबोधाभाव एवाख्यातिरिति।

15. इत्थं च दर्शनभेदेन चतुर्दश ख्यातिवादाः प्रस्तूयन्ते। तत्र  
 नामभेदेन त एव विंशतिं नामानि यथायथं गृह्णन्ति।

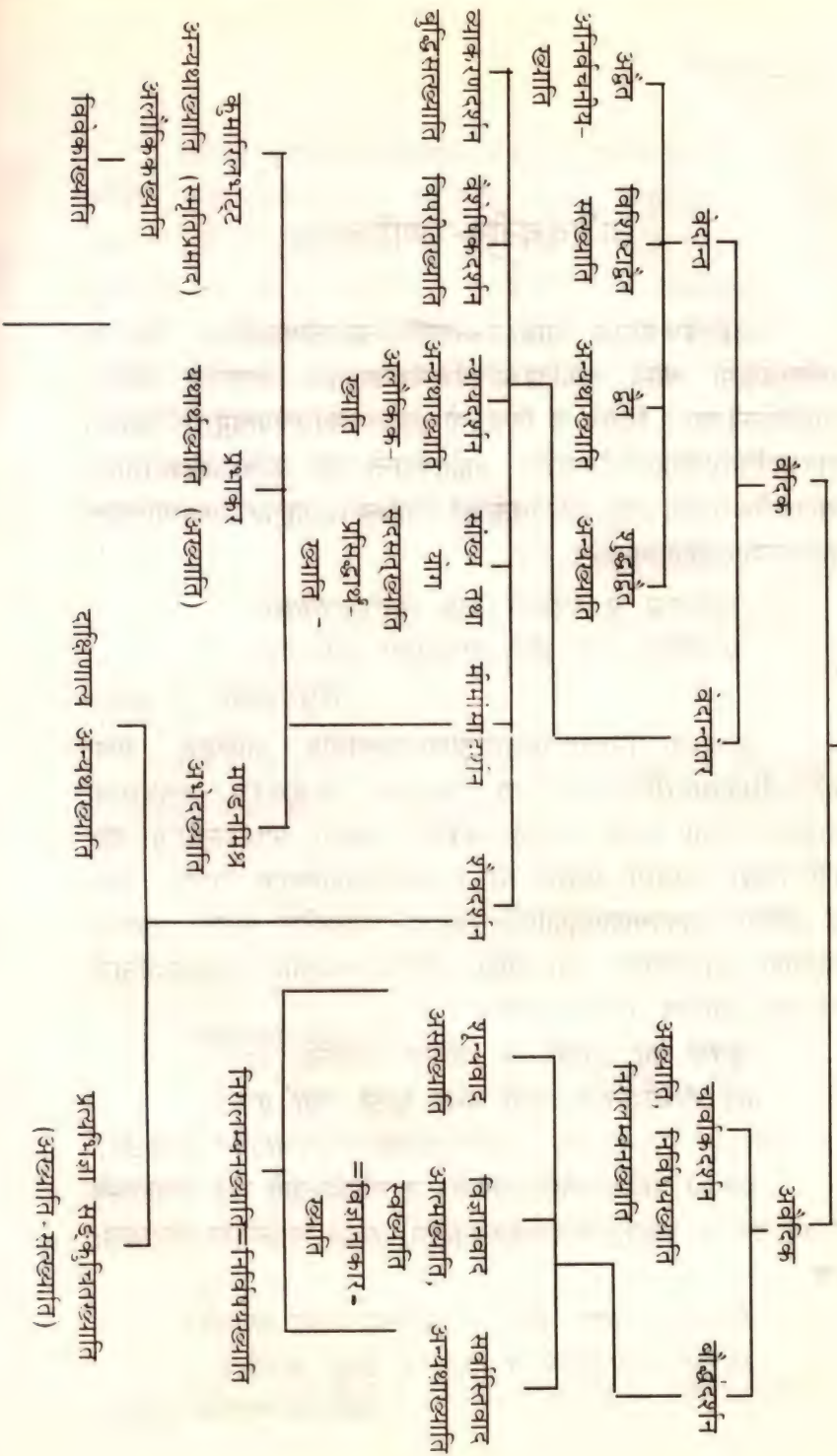
### अत्रायं विवेकः

सर्वेष्वपि ख्यातिवादिषु प्रायेण भ्रमस्यैव निरूपणं क्रियमाणं  
 दृश्यत इति ख्यातिं भ्रमपर्यायत्वेन मा भ्रमिषुः। सम्यक्ख्यातिमेव  
 स्पष्टयितुं पुरस्कर्तुं च भ्रमस्यासम्यक्ख्यातिरूपस्य निरूपणं क्रियते।  
 किन्तु न जातु भ्रमपर्यायता ख्यातिशब्दस्य। सविकल्पकस्य प्रत्यक्षस्य,  
 तादृशस्य ज्ञानमात्रस्येदं नाम। अत एव भागवते भगवान् पाराशर्यः---

स्वप्नां यथात्मनःख्यातिःसंसृतिर्न तु वास्तवी। (11/11/12)



रुद्रातिवाद



## अनिर्वचनीय-ख्यातिवादः

अनिर्वचनीयस्य भावस्य ख्यातिरनिर्वचनीयख्यातिः। किं वा अनिर्वचनीया चासौ ख्यातिश्चानिर्वचनीयख्यातिः। प्रथमपक्षे विषय-स्यानिर्वचनीयत्वम्, द्वितीये च विषयिणो ज्ञानस्यानिर्वचनीयत्वम्, लौकिकस्य ज्ञानस्यानिर्वचनीयत्वस्वीकारात्। अद्वैतवेदान्ते हि प्रातिभासिकसत्तावद् व्यावहारिकसत्ताया अपि अनिर्वचनीयत्वं स्वीक्रियते। मायिकं विश्वमधिकृत्य बृहन्नारदीयसंहितायामुक्तम् ---

नासदरूपा न सदरूपा माया नैवोभयात्मिका।

अनिर्वाच्या ततो ज्ञेया मिथ्याभूता सनातनी॥

(लघुमञ्जूषा, पृ. 239)

इत्थञ्च मिथ्यात्वमेवानिर्वचनीयत्वमिति फलितम्, यथा प्रातिभासिकमृगमरीचिकादिस्थलेषु किरणानां चाकचक्ये जलधाराया आरोपो दृश्यते तथैव व्यावहारिकस्थले ब्रह्मणि प्रपञ्चस्यारोप इति फलितार्थः। अध्यास आरोपो वा भवत्यनिर्वचनीयताया विषयः। तथा हि प्रतिभासे शुक्त्यादावनुयोगिनि रजतादेः प्रतियोगिन आरोपः। एवमेव आत्मनि अनात्मवस्तुनः प्रपञ्चस्य आरोपो भवतीति अद्वैतवेदान्तिनां स्थापना। इमामेव मायां निगदन्ति ---

ऋतेर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।

तद् विद्यादात्मनो मायां यथा भासो यथा तमः॥

(भागवते 2/9/38)

इत्थञ्च सत्त्वेनासत्त्वेनोभयात्मत्वेन च व्याख्यानर्हत्वे सति व्यवहारस्य प्रतिभासस्य वा प्रतियोगित्वमनिर्वचनीयत्वम्। इत्येव मनसिकृत्य गौडपादाः प्राहुः ---

स्वतो वा परतो वापि न किञ्चिद् वस्तु जायते॥

सदसत् सदसद्वापि न किञ्चिद् वस्तु जायते॥

(माण्डूक्यकारिका 4/22)



शाङ्करभाष्यानुसारेणायमर्थः वस्तु न स्वत उत्पद्यते, घटादेव घटस्य जन्माभावदर्शनात्। न परतः, पटाद् घटोत्पत्तेरसम्भवात्। व्यवहारे यद् वस्तुत्पद्यमानं कथ्यते तद् यदि सत् तर्हि उत्पत्तेर्वैयर्थ्यम्। असच्चेत् तर्हि कस्य नामोत्पत्तिः? न हि असतः शशविषाणस्य जन्म दृष्टम्। ननु तर्हि सदसदुभयात्मकता स्याद्वस्तुन इति चेन्नैवम्। एकस्मिन् धर्मिणि एकस्मिन्नेव क्षणे सदसत्त्वयोर्विरुद्धधर्मयोः सन्निवेशासम्भवात्। पुनरुक्तं माण्डूक्यकारिकाकारैः ---

नास्त्यसद्भेतुकमसत् सदसद्भेतुकं तथा।

सच्च सद्भेतुकं नास्ति सद्भेतुकमसत् कुतः॥

(माण्डूक्यकारिका 4/40)

असतः कारणमसत्स्यादुभयात्मकं वा स्यादिति चेन्न घटते, सतो हेतुः सदित्यपि न घटते। इत्थञ्च असतः कारणस्य चर्चैव नोदेति।

उक्तरीत्या सती असती उभयात्मिका वा ख्यातिर्न सम्भवति। त्रितयविलक्षणत्वेन ख्यातिरनिर्वचनीयैवेति फलितम्। मायां परिभाषमाणाः शाङ्कराचार्यपादाः प्राहुः ---

सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो

भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।

साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो

महाद्भुताऽनिर्वचनीयरूपा ॥

(विवेकचूडामणिः 111)

मायाया इदं कोटित्रयविलक्षणत्वमेवानिर्वचनीयत्वम्। चित्सुखाचार्यश्च परिबभाषे ---

प्रत्येकं सदसत्त्वाभ्यां विचारपदवीं न यत्।

गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवेदिनः ॥

(चित्सुखी, पृ. 79)✓

अयमनिर्वचनीयोऽध्यासः सर्वत्र स्मृतिरूपतामेव भजति। विशेषतः

स्वप्ने पित्रादीनां दर्शनं स्मृतिरूपमेव। निद्राकृतव्यामोहेन निद्रितः पुरुषो न जानीते पिता निकटे न वर्तते इति। असन्निहितयोर्देशकालयोः सन्निहितदेशकालताया आरोप एव स्वप्ने घटयति। इत्येवं विविञ्चन् अनिर्वचनीयख्यातिं स्थापयाम्बभूव भामतीकारः (ब्रह्मसूत्रस्य अध्यासभाष्ये)। अनिर्वचनीयख्यातिं विवृण्वानः श्रीवाचस्पतिमिश्रो यदवोचत् तस्य सारांशमात्रमिह निगद्यते-

1. प्रकृत्या श्वेतोऽपि शंखः पीतत्वं भजन् दृश्यते, अत्रापि सुवर्णादीनां पीतपदार्थानां स्मृत्या सह नेत्रगतपित्तस्य पीतिम्नो योगः। पित्तसम्प्रकृत्या नेत्ररश्मयः शङ्खे पतन्ति। पुरुषश्च कामलारोगस्य पीततामज्ञात्वा शङ्खे पीततामारोपयति। एवमेव रसनागत-पित्तस्य कटुताया गुडे आरोपं कृत्वा गुडः कटुरिति प्रतिपद्यते। अत्रापि निम्बादीनां स्मृतायाः कटुताया योगः।
2. यदा छायापुरुषदर्शने प्रतिबिम्बभ्रमो जायते तत्रापि दर्पणे जले वा दृष्टस्य प्रतिबिम्बस्य स्मरणेन सह सूर्यरश्मिषु प्रतिबिम्बारोपः।
3. द्विचन्द्रदर्शनस्थले स्थानान्तरगतस्य चन्द्रस्य स्मृत्या सह स्थानान्तरोयचन्द्रस्य प्रतीतिर्जायते। इत्येवम् एकस्मिन्नेव स्थाने चन्द्रद्वयं दृश्यते। दिग्भ्रमे स्मृताया दिशोऽन्यस्यां दिशि आरोपः। अलातचक्रे चक्रस्मृतः शीघ्रगतेश्चारोप इति चक्राकारताया अनिर्वचनीयख्यातिः सम्भवति। पूर्वदृष्टनगरस्य स्मृतिं मेघादिष्वारोप्य गन्धर्वनगरस्या-निर्वचनीयख्यातिं लभते। मण्डूकमंदसा लिप्तनेत्राभ्यां वंशदण्डः सर्पतां भजन् प्रतीयते। तत्रापि सर्पाकारं वंशं स्मृतस्य सर्पस्यारोप इत्यनिर्वचनीयख्यातिरेव।
4. प्रतीयमानतैव सत्ता न भवति। अत एव नोक्तस्थलेषु सत्ख्यातिः। देहस्येन्द्रियादीनां च प्रतीतिरपि न सत्ख्यातिः। रज्जौ सर्पस्य, स्फटिके प्रतिबिम्बितस्य जपारागस्य च प्रतिभासे सत्ख्यातिश्चेत् स्यात् तर्हि मृगमरोचिकया



पिपासाशमनमपि जायेत। मरुस्थले तीव्रसूर्यमरीचिषु स्मृताया मन्दाकिन्या अध्यारोप-मात्रेण न सतो जलस्योपलब्धिः सम्भवति। अत एव प्रातिभासिकस्थलेषु अवाञ्छतापि वस्तुसतः प्रतीतिरमान्यैव भवति। इत्येवं सत्ख्यातिवादस्य भामतीकारेण खण्डनं कृतम्। ननु किरणरूपेण जलस्य मृगमरीचिकासु वस्तुसत्ता मा भूत् तथापि जलस्य स्वरूपसत्ता तु विद्यत एव, तस्यैव प्रतिभासो जायते इति सत्ख्यातिः, स्पष्टमनुभूयमानानि देहेन्द्रियादीनि कथमसत्तां भजेरन्? मैवम्। स्वरूपसत्तामात्रेण पारमार्थिकसत्ताया अभावे मृगमरीचिकासु कथमपि जलस्य सत्ख्यातिर्नाङ्गीकर्तुं शक्यते। प्रतिक्षणं विपरिणममानानि च देहेन्द्रियादीनि कथं सत्ख्यातेर्विषयतां प्राप्नुयुः।

5. असत्ख्याताविवादिनस्तावत् स्थापयन्ति ---- भावादभावो भिन्नतां न गाहते। क्षणिको भाव एव भावान्तररूपेणा भावो निगद्यते, क्षणिकतया न भावोऽनुभवविषयो भवितुं शक्नोति। तत्र हि अर्थक्रियायाः सामर्थ्यमेव न भवति, क्षणिकत्वादेव। एवं च चिदात्मनि आरोपस्याध्यासस्य वा न कोप्यवसरः। एवंभूताः प्रभूता अनुपपत्तीरुद्भाव्य ते खलु असत्ख्यातिमुपस्थापयन्ति। तथा हि ---

तस्मादत्यन्तासन्तः शरीरेन्द्रियादयो निस्तत्त्वा नानुभवविषया भवितुमर्हन्ति।  
(भामती- पृ. 22/23)

उत्तरयन्तो वाचस्पतिमिश्राः प्राहुः, यदि निस्तत्त्वाः पदार्था नानुभवगोचरा भवन्ति, तर्हि सूर्यमरीचिकासु जलस्यानुभवः कथं जायते। न हि जलरूपेण किरणाः सतत्त्वा भवन्ति। सर्वेषां वस्तूनां स्वरूपतः सत्त्वं पररूपतश्चासत्त्वं भवति। तथा चोक्तम् ---

स्वरूप-पररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मनि ।

वस्तुनि ज्ञायते किञ्चिद् रूपं कैश्चित् कदाचन ॥

(तत्रैव, उद्धरणम्)

6. तर्हि किं सत्ख्यातिपक्षो ग्राह्यः, मरीचिषु तोयनिर्भासो यदि न भ्रान्तस्तर्हि कथं बाध्यते? बाध्यते चेत् कथं सत्ख्यातिः? यत्र बाधस्तत्र भ्रान्तिरवश्यम्भाविनी। किरणान् तोयात्मना गृह्णानः कथमभ्रान्तः स्यात्?

हन्त तोयाभावात्मनां मरीचीनां तोयभावात्मत्वं तावन्न सत्, तेषां तोयाभावादभेदेन तोयभावात्मतानुपपत्तेः। (तत्रैव)

7. यदा सत्ख्यातिरसत्ख्यातिश्च नोपपद्येते तदा अनिर्वचनीय-  
ख्यातिरेव सिद्धान्तपक्षे समापतति-

तस्मान्न सत्, नाप्यसत्। नापि सदसत्, परस्परविरोधात्। इत्यनिर्वाच्यमेवारोपणीयं मरीचिषु तोयमास्थेयम्। तदनेन क्रमेणाध्यस्तं तोयं परमार्थतोयमिव, अत एव पूर्वदृष्टमिव, तत्त्वतस्तु न तोयं न च पूर्वदृष्टं किन्तु अनृतमनिर्वाच्यम्। (तत्रैव, पृ. 23/24)

प्रातिभासिकस्थलेषु यथाऽनिर्वचनीयख्यातिस्तथैव व्यावहारिक प्रपञ्चोऽपि अनिर्वचनीयख्यातेरेव विषयः। तथा हि ---

देहेन्द्रियादिप्रपञ्चोऽप्यनिर्वाच्यः। अपूर्वोऽपि पूर्वमिथ्याप्रत्ययो पदर्शित इव परत्र चिदात्मनि अध्यस्यते। (तत्रैव, पृ. 24-25)

अध्यस्तत्त्वादेव प्रपञ्चोऽपि अनिर्वचनीयतया ख्यायत इति सारांशः। असच्चेत् कथं ख्यायते, सच्चेत् तत्त्वज्ञानेन कथं बाध्यते? एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धर्मयोरसम्भवात् सदसत्ख्यातिरपि न सम्भवति। अत एवानिर्वचनीयख्यातिः सिद्धान्तरूपेणावतिष्ठते। अत्रैव सन्दर्भे मतान्तराणि निरूपितानि ---

क. सर्वास्तिवादिनो वैभाषिका बाह्यपदार्थं सन्तं प्रत्यक्षञ्च मन्यन्ते।

ख. सौत्रान्तिकास्तु बाह्यार्थं सन्तं किन्तु, क्षणिकं मत्वा ज्ञानाकारस्यारोपेण सर्वथाऽनुमेयमेव स्वीकुर्वन्ति।



ग. विज्ञानवादिनां बौद्धास्तु बाह्यं वस्तु अमदिति कृत्वा  
विज्ञानाकारं मन्यन्ते।

घ. कौमारिलाः खलु स्मृतिप्रमोषमास्थाय विपरीतख्याति-  
मन्यथाख्यातिं वा स्थापयन्ति।

ङ. प्राभाकरास्तु शुक्तिरजतादिस्थलेषु इदन्तायाः प्रत्यक्षं रजतादेशच  
स्मरणं स्वीकृत्य भ्रमस्थलेष्वपि यथार्थख्यातिमेव सिद्धान्तयन्ति।

+ + + + +

बुद्धिसत्ख्यातिवादं स्थापयन्तो नागेशभट्टपादा अनिर्वचनीय-  
ख्यातिखण्डनाय श्रीहर्षकृतखण्डनखण्डखाद्यस्य प्रमाणपरिच्छेदादुद्धरणं  
प्राप्तौत् ---

परकीयरीत्येदमुक्तमनिर्वचनीयत्वं विश्वस्य पर्यवस्यतीति। वस्तुतस्तु  
वयं सर्व-प्रपञ्चसत्त्वासत्त्व-व्यवस्थापननिवृत्ताः स्वतःसिद्धे  
चिदात्मनि ब्रह्मतत्त्वं केवले भारमवलम्ब्य चरितार्थाः सुखमास्महे।  
ये तु स्व-परिकल्पित-साधन-दूषण-व्यवस्थया विचारमवतार्य  
तत्त्वं निर्णेतुमिच्छन्ति तान् प्रति ब्रूम, न साध्वीयं भवतां  
विचार-व्यवस्था, भवत्कल्पित-व्यवस्थयैव व्याहतत्वात्।  
(लघुमञ्जूषा पृ. 238 उद्धरण)

तदेतन्न चारु। श्रीहर्षपादा मतान्तराणां खण्डनं कृत्वा  
यामनिर्वचनीयतां स्थापयाम्बभूवुः साऽपि न तस्मै रोचते, परमगन्तव्यस्य  
ब्रह्मणस्तर्कातीतत्वात्। तर्कात् तत्त्वनिर्णयो नैव जायते, किं तर्हि,  
शुष्कविवाद एव फलति। अतः सदसतो निर्णयं विहाय एकतत्त्वाभ्यास  
एवं शरणीकरणीयः। एकतत्त्वाभ्यासे शरणीकृतेऽपि व्यवहारस्य व्याख्या  
कथं जायेत? साधनामार्गे प्रशस्तीकृतेऽपि व्यावहारिकज्ञानमीमांसाया  
द्वारमेव दत्तकपाटं स्यात्। शाङ्कराणामनिर्वचनीयख्यातिवादः खलु  
सर्वानन्यान् ख्यातिवादान् प्रत्याख्याय सुतरां स्थापितो विद्यते। अत  
एवसर्वदर्शन-सङ्ग्रहकारः शङ्करं दर्शनं परिशीलयन् प्रोवाच-

ततः ख्याति-बाधान्यथानुपपत्त्या भ्रान्तिगोचरस्य मायामयस्य  
रजतादेः सदसद्विलक्षणत्वलक्षणमनिर्वचनीयत्वं सिद्धम्।

(सर्वदर्शनसङ्ग्रह, पृ. 47)

अत्रेदं विशेषतोऽवधेयम्। ब्रह्मणः समष्टिशक्तिर्माया, जीवस्य  
व्यष्टिशक्तिरविद्या। कथं तर्हि रजतादेर्मायामयत्वमुक्तम्, तस्याविद्यामयत्वात्।  
अत एव विद्यारण्यस्वामिपादाः प्राहुः ---

तत्त्वज्ञान-निवर्त्यत्वाद् रजतमविद्यामयं न तु मायामयम्। न च  
मायैवाविद्या, लक्षणप्रसिद्धिभ्यां तयोर्भेदावगमात्। आश्रय  
मव्यामोहयन्ती कर्तुरिच्छामनुसरन्ती माया, तद्विपरीता त्वविद्या।

(विवरणप्रमेयसङ्ग्रहः पृ. 133)

परं तु भगवत्पादैरध्यासभाष्यादिषु मायाशब्दं विहायाविद्याशब्द  
एव प्रयुक्तः। मायामयस्य प्रपञ्चस्य अविद्यामयस्य शुक्तिरजतादेश्च।  
शेषं विहाय कथं तथा प्रायोजि? अत्र समादधौ ---

अनिर्वचनीयत्वे सति तत्त्वावभास-प्रतिबन्ध- विपर्ययावभासयोर्हेतुत्वं  
लक्षणम्। तच्चोभयोरविशिष्टम्। (तत्रैव)

इयानेव विशेषः, प्रातिभासिकी खल्वनिर्वचनीयख्याति-  
व्यावहारिकतत्त्वज्ञानं प्रतिबध्नाति, व्यावहारिक-तत्त्वज्ञानेन च बाध्यते।  
अत एव तामविद्यां तूलाविद्यां वा स्थूलाविद्यां वा निगदन्ति।  
व्यावहारिकी नामानिर्वचनीयख्यातिः प्रपञ्चरूपा ब्रह्मणि अध्यस्यते। सा  
मायाकृता निगद्यते। इयं मूलाविद्येति नाम्ना व्यवहरन्त्याचार्याः। इयं  
पारमार्थिकं तत्त्वज्ञानं प्रतिबध्नाति, परमार्थज्ञानेन च निरस्यते।

अनिर्वचनीयख्यातिरेव मिथ्याख्यातिनाम्नापि व्यवहारपथमारोहति।  
अद्वैतवेदान्ते हि मिथ्याशब्दोऽनिर्वचनीयशब्दस्य पर्यायः।

+ + + + +

अध्वगिन्द्रो धर्मराजो वेदान्तपरिभाषायाः प्रत्यक्ष विवेचनस्थलं  
एतामनिर्वचनीयख्यातिं विशेषेण विवेचयामास।



व्यावहारिकप्रातिभासिकप्रत्यक्षयोरयमेव विशेषः, यत्र संसारकालिको बाधो न भवति तद् व्यावहारिकम्, यथा घटपटादिप्रपञ्चः। यत्र संसारकाल एव बाधस्तत् प्रातिभासिकम्, यथा शुक्तौ रजतं रज्जौ वा सर्पः। अनयोः स्थलयोः प्रत्यक्षवस्तूनां मिथ्योत्पत्तिः। तदेवं मिथ्यात्वमेवानिर्वचनीयत्वम्।

1. अलौकिकख्यातिवादिनो नैयायिका ज्ञानलक्षणया प्रत्यासत्त्या शुक्तौ स्मृतस्य रजतस्य प्रतीतिं स्वीकृत्य विपरीतख्याति-मुपस्थापयन्ति। ते प्रत्यक्षकाले शुक्तावनिर्वचनीयस्य रजतस्य उत्पत्तिं नाभ्युपयन्ति। (वेदान्तपरिभाषा, पृ. 93) वेदान्तिनः खलु प्रतिब्रुवते इन्द्रियार्थसन्निकर्षाभावेन स्मृतस्यरजतादेः प्रत्यक्षविषयताया असम्भवः। यदि नाम भ्रमस्थलेषु ज्ञानलक्षणया प्रत्यासत्त्या अलौकिक-ख्यातिर्व्यवस्थाप्यते तर्हि अनुमानस्योच्छेद एव स्यात् तयैव प्रत्यासत्त्या वह्निरभृतेर्ज्ञान-विषयतायाः सम्भवात्। (तत्रैव पृ. 94)

2. प्रतिवादी पुनः प्रत्ययवतिष्ठते व्यावहारिकरजतस्योत्पत्तौ परमाण्वादयः कारणतां वहन्ति, प्रातिभासिकस्थले सामग्र्या अभावे रजतादेः कथमुत्पत्तिः स्यात्। अत्र वेदान्तिनामिदमुत्तरम् प्रातिभासिकस्योत्पत्तौ व्यावहारिकसामग्री नापेक्ष्यते, प्रत्युत विलक्षणाऽनिर्वचनीया सामग्री कार्यं निर्वहति। (तत्रैव, पृ. 46) तथा हि- कामलादिदूषितनेत्रस्य पुरुषस्य पुरतः शुक्तौ संयोगादि सन्निकर्षेणेदमाकारा विलक्षणा चित्तवृत्तिरुदेति। तथा च चाकचक्यादिनां रजतादेः स्वरूपं गृह्णाति। तस्यां चित्तवृत्ताविदन्तोपहितं चैतन्यं प्रतिबिम्बते। इन्द्रियप्रणाल्या चित्प्रतिबिम्बसहितान्तःकरणवृत्तिर्विषया-कारग्रहणवेलायां शुक्त्याकारतां विहाय, इदमाकारमात्रं गृह्णाति। तदानीमिदमवच्छिन्नचैतन्यरूपं प्रमेयम्, वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यरूपं प्रमाणम्, अन्तःकरणावच्छिन्न-चैतन्यरूपं च प्रमातेति त्रितयस्य भेदेऽपि अभेद एव घटते। ततश्च प्रमातृचैतन्याभिन्ने विषयचैतन्ये शुक्तित्वा

दिप्रकारिकाऽविद्या सक्रियतां भजति। चाकचाक्यादि-जनितं  
सादृश्येन रजतसंस्कार उद्बोध्यते। ततश्च कामलादि-दोषेण  
सह सा वृत्ती रजतरूपाकारतां भजन्ती प्रतिभासरूपं  
परिणामं लभते।

3. अत्रेदमवधेयम्। उपादानसमसत्ताकार्योपलब्धिः परिणामः,  
उपादानविषमसत्ताकार्योपलब्धिर्विवर्तः। एवञ्च प्रातिभासिकं  
रजतमविद्यामपेक्ष्य परिणामः, चैतन्यापेक्षया च विवर्तः  
(तत्रैव, पृ. 100)। इत्थञ्च विषयचैतन्यं प्रमातृचैतन्यञ्च  
भेदं विहाय तादृशं रजतं भासयतः यदनन्यवेद्यं सत्  
साक्षिमात्रभास्यं भवति (तत्रैव पृ. 103-104)। व्यावहारिकं  
रजतं सर्ववेद्यं भवति प्रातिभासिकं च साक्षिमात्रवेद्यमिति  
विशेषः।

4. ननु यदि साक्षिणि रजताभासो भवति तदा अहं  
रजतमित्यहमाकारा प्रतीतिः स्यात्, न त्विदमाकारा ख्यातिरिदं  
रजतमिति। सुखादि-प्रत्यय-स्थले, अहं सुखीत्यहमाकारा  
प्रतीतिर्भवति न त्वयं सुखीतीदमाकारा प्रतीतिरिति चेन्मैवम् -

न हि सुखादीनामन्तःकरणावच्छिन्न-चैतन्यनिष्ठाविद्या  
कार्यत्वप्रयुक्तमहं सुखीति ज्ञानम्। सुखादीनां घटादिवच्छुद्धचैतन्य  
एवाध्यासात्। किन्तु यस्य यदाकारानुभवाहित- संस्कार-  
सहकृताऽविद्याकार्यत्वं तस्य तदाकारानुभव- विषयत्व-मेवानुगतं  
निमयामकम्। (तत्रैव, पृ. 104)

एवं च शुक्तिरूप्यस्य शुक्त्यवच्छिन्न-चैतन्यनिष्ठतूलाविद्या-  
कार्यत्वपक्षे शुक्तिरिति ज्ञानेन तदज्ञानेन सह रजतस्य बाधः।  
मूलाविद्याकार्यत्व-पक्षे तु मूलाविद्याया ब्रह्म-तत्त्व  
साक्षात्कार-मात्र-निवर्त्यतया शुक्तित्व- ज्ञानेनानिर्वर्त्यतया रजतस्य  
तत्र शुक्तिज्ञानाद् निवृत्तिमात्रं मुसलप्रहारेण घटस्येव।

(तत्रैव, पृ. 123)



अध्यारोप एवानिर्वचनीयख्यातरूपजीव्यम्। अध्यारोप  
 एवाध्यासः। मूलाविद्यया ब्रह्मणि प्रपञ्चस्य सदसद्विलक्षणा-  
 निर्वचनीयख्यातिर्भवति। आत्मज्ञानेन तद्बाधः। जीवगता त्वविद्या तूलाविद्येति  
 निगद्यते। शुक्तिरजतस्थले व्यावहारिक-वस्तुनि प्रातिभासिकवस्तुनः  
 प्रतीतिर्जायते। व्यावहारिकार्थज्ञानेन तद्बाधो भवति। अनादिमूलाविद्या  
 ब्रह्मणि प्रपञ्चं जनयति, आत्मज्ञानेन तन्नाशः, इन्द्रियदोषादिजन्या तु  
 जीवगता तूलाविद्या तात्कालिकी भवति यस्या व्यवहारज्ञानेन नाशः।  
 एवञ्चानिर्वचनीयख्यातेर्द्वयो भवति, व्यावहारिकी च प्रातिभासिकी चेति  
 शम्।

+ + + + +

## अन्यख्यातिवादः

वल्लभाचार्यस्य शुद्धाद्वैतदर्शनेऽन्यथाख्यातिं विहायान्यख्यातिवादः स्थाप्यते। व्यामोहिकया मायया मोहितेन जीवेन सत्यं प्रपञ्चं मिथ्याभूतं च संसारं विवेक्तुं न पार्यते। तेनान्यस्यान्यप्रतीतिर्जायते। इदमेवान्य-  
ख्यातिवादस्य बीजम्। मायाया व्यामोहकं स्वरूपं स्थापयन्त  
आहुर्वल्लभाचार्याः ---

ईश्वरेच्छाया जीवस्य भगवद्धर्मतिरोभावः। .....  
ज्ञानतिरोभावाद् देहादिष्वहं-बुद्धिः सर्वविपरीतज्ञानं चापस्मार-  
सहितस्यैव .....

(ब्र.मू., अणुभाष्यम् 3/2/5)

नेदं विपरीतज्ञानमन्यथाख्यातिः, किन्तर्हि, अन्यख्यातिरिति  
पुरुषोत्तमगोस्वामिनः प्रतिष्ठापयामासुः ---

पूर्वोत्पन्नस्यानुभवस्य संस्कारात्मना स्थितस्योद्बोधकैः प्राबल्यं  
मायिकार्थाकारवती बुद्धिवृत्तिर्मयया बहिः क्षिप्यते। तदा सा  
पुरोवर्तिनं सर्वतोऽशतो वाऽऽवृत्य बहिरवभासत इति  
मायिकस्यान्यस्यैव ख्यानादन्यख्यातिरित्यत्र व्यवहियते।

(प्रस्थानरत्नाकरः, पृ. 17)

अन्यान् ख्यातिवादान् पूर्वपक्षत्वेनोपस्थाप्य स्वमतं सिद्धान्तितम्-  
तत्र मायिकस्यैवेदमंशस्य भानेन पारमार्थिकस्याप्रमेयत्वात्।

(तत्रैव, पृ. 15)

सर्वोऽपि विषयो मायया रूपान्तरं नीयते, येन प्रमेयोऽन्य इव  
भासते। फलतो भ्रमः खलु अन्यख्यातिरेव, नान्यथाख्यातिरिति दिक्।

+ + + + +



## अन्यथाख्यातिवादः

अन्यथाख्यातिरिति विपरीतख्यातिरित्यनर्थान्तरम्। नव्यनैयायिकेषु अन्यथाख्यातिशब्द एव विशेषेण गृह्यते। अन्यप्रकारेण जायमाना ख्यातिरेव अन्यथाख्यातिः। सा चेयमप्रमेति वा भ्रम इति वा व्यवह्रियते। अयं शब्दः 'अतद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थः' इत्युक्तिं स्मारयति। विपरीतख्यातिशब्दस्तु विपर्ययमेव ब्रूते। अत एव नामान्तरं जगदुर्नव्याः। मूलतोऽन्यथाख्यातिशब्दः सौत्रान्तिकबौद्धानामिति नागेशभट्टा निर्णिन्युः। सौत्रान्तिका हि बाह्यपदार्थाननुमेयान् मन्वते। यथा प्रत्यक्षीकृतो धर्मस्तथा न सविकल्पकज्ञानेऽवतरति। अमुमर्थं विशादीकुर्वन्तो वैयाकरण-लघुमञ्जूषाकाराः प्राहुः ---

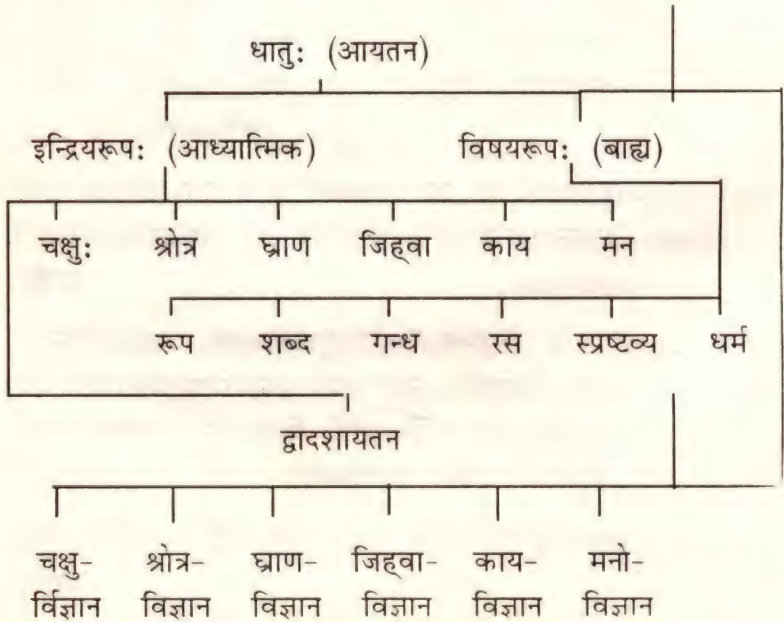
1. यद्यपि अन्यथाख्यातिः सौत्रान्तिकस्य बाह्यशुक्त्यादौ ज्ञानधर्म-रजतादेरध्यास इति तेनाङ्गीकारात् तथापि हट्टस्थ-रजतादेरारोप इति रीत्या वैशेषिकैः स्वकीयैः सादृता।  
(लघुमञ्जूषा, पृ. 230)
2. तदुभयमपि न, तत्र तदसत्त्वेन तद्रूपस्य सन्निकर्षाभावेन 'असन्न भासते सन्निकर्षाभावात्' इति स्वसिद्धान्तव्याघातात्।  
(तत्रैव)
3. किं च विशेष्य-विशेषणानुयोगिकत्व-प्रतियोगिकत्वा-विशिष्टसम्बन्धस्य त्वयाप्यसत् एव भानाङ्गीकारात् तद्ग्रह-असंसर्गाग्रह एव पर्यवसानमिति विशिष्टभ्रम-वाचकस्यान्यथा-ख्यातिरिति वचसो व्याघातात्।  
(तत्रैव)
4. ज्ञानस्यार्थव्यभिचारित्वे ज्ञानेनार्थसिद्धिरिति स्ववचोव्याघातात्।  
(तत्रैव)
5. प्रसिद्धसामग्रीव्यतिरेकेऽपि यया सामग्र्या शुक्त्यादौ रजता-

द्युत्पत्तिस्तया सामग्र्या विषयासत्त्वेऽपि तदसन्निकर्षेऽपि  
ज्ञानाङ्गीकारेऽपि न बाधकम्। (तत्रैव, पृ. 232)

क्रोशन्तु नाम वैयाकरणा अन्ये वा। किं सिंहस्यापि गर्जनं  
शृगाला हूत्कारं जहति। किं पुनर्बौद्धाः, नैयायिका भाट्टा जैनाश्चापि  
सम्भूयान्यथाख्यातिं समर्थयन्ति समुपस्थापयन्ति च। तत्र  
प्रथमेन्यथाख्यातिवादिनः सौत्रान्तिकाः।

क. सौत्रान्तिकानां बाह्यार्थानुमेयवादसमर्थितोऽन्यथाख्यातिवादः

बौद्धप्रस्थानेषु धर्मो मिथ्यैव, अष्टादश धर्मा एव प्रत्यक्षावपयतां  
यान्ति। ते च धातुनाम्ना निगद्यन्त आयतननाम्ना च। अर्थविनिश्चयमूत्रं  
(3/4) पुरस्कृत्य निर्दिश्यते अयमात्मायतनविभागः ---





अत्र इन्द्रियविषयौ प्रतीत्य विज्ञानं समुत्पद्यत इति प्रतीत्यसमुत्पादो  
बौद्धानाम्।

अत्र बाह्यप्रत्यक्षवादिनो वैभाषिकाः ---

चक्षुः पश्यति रूपाणि सभागं न तदाश्रितम्।

विज्ञानं दृश्यते रूपं न किलान्तरितं यतः ॥

(अभिको, 1/42)

तन्नेति सौत्रान्तिकाः ---

किमिदमाकाशं खाद्यते? चक्षुर्हि प्रतीत्य रूपाणि च, उत्पद्यते  
चक्षुर्विज्ञानम्। तत्र कः पश्यति को वा दृश्यते? निर्व्यापारं  
हीदं धर्ममात्रं हेतुफलमात्रं च। तत्र च्छन्दत उपचाराः क्रियन्ते-चक्षुः  
पश्यति विज्ञानं विजानातीति नात्राभिनिवेष्टव्यम्।

(तत्रैव भाष्यम्)

तथा चोपस्थापयाम्बभूवुः सर्वदर्शनसङ्ग्रहकाराः ---

तथा च यथा पुष्ट्या भोजनमनुमीयते यथा च भाषया देशां  
यथा वा संध्रमेण स्नेहस्तथा ज्ञानाकारेण ज्ञेयमनुमेयम्।

(सदसं, पृ. 36)

यथा धर्माः प्रत्यक्षोक्रियन्ते, न तथा सविकल्पिका ख्यातिर्जायते  
इत्यन्यथाख्यातिः सौत्रान्तिकानाम्।

ख. नैयायिकानामन्यथाख्यातिवादः

संशयाविपर्ययतर्कस्थलंपु अन्यथाख्यातिर्मता नैयायिकानाम्।  
अख्यातिवादिनः प्राभाकराः प्रत्यवतिष्ठन्ते ---

न चान्यथाख्यातिः सम्भवति, रजत-प्रत्यक्ष-कारणस्य ।

रजतेन्द्रिय-सन्निकर्षस्याभावाद् रङ्गे रजतबुद्धेरनुपपत्तेः॥

(न्यामु., 136)

नैवमिति नैयायिकाः ---

सत्यरजतस्थले प्रवृत्तिं प्रति विशिष्टज्ञानस्य हेतुतायाः  
क्लृप्तत्वादन्यत्रापि तत्कल्पनात्। (तत्रैव)

अख्यातिवादस्तु न कथमपि सङ्गच्छते। अन्यथाख्यातौ हि प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्। भ्रमे हि निरस्ते प्रमाता जानीते मया रङ्गे रजतं ज्ञातमिति। तथा च ---

रङ्गे रङ्गभेदग्रहे रजते रजतभेदग्रहे चान्यथाख्यातिभयात्  
त्वन्मतं दोषादेव रङ्गे रजतभेदाग्रहस्य रजते रङ्गभेदाग्रहस्य  
च सत्त्वात्। (तत्रैव)

भ्रमस्थले खलु अलौकिकख्यातिः प्रभवति। केयमलौकिकख्यातिः? अलौकिकप्रत्यक्षमिति गृहाण। ज्ञानलक्षणया हि अलौकिक-प्रत्यासत्त्याऽन्यथाख्यातिर्जायते। ज्ञानमिह स्मृतिः। स्मृतिरेव सन्निकर्षतां भजति। तेन सन्निकर्षेण यथा घ्राणसन्निकर्षं विनापि चन्दनादौ सौरभादि प्रतीयते तथैवेहापि ज्ञेयम्।

ज्ञानमेव लक्षणं स्वरूपं यस्याः सा ज्ञानलक्षणा। ज्ञानमिह स्मरणम्, तद्रूपा प्रत्यासत्तिः। प्रत्यासत्तिः सन्निकर्ष इत्यनर्थान्तरम्। अयमलौकिकः सन्निकर्षो येनालौकिकं प्रत्यक्षं जायते। चक्षुषा सन्निकृष्टे चन्दने घ्राणसन्निकर्षं विनापि चन्दनं सौरभस्य प्रत्यक्षं जायत एवेति अन्यथाख्यातिं व्याचक्षाणो विश्वनाथपञ्चाननः प्राह ---

रङ्गे रजतत्वविशिष्ट - बुद्ध्यनुरोधेन ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति-  
कल्पनेमापि न क्षतिः। (न्यामु, 136)

यथा चन्दने सौरभस्यालौकिकं प्रत्यक्षं भवति तथैव शुक्तिगतं चाकचकयं दृष्ट्वा सादृश्यवशाद् रजतस्य स्मरणं जायते स्मरणरूपया प्रत्यासत्त्या रजतस्यालौकिकं प्रत्यक्षं भवति। तेन रजतत्वरूपविशेषणविशिष्टा बुद्धिरुदेति। पुरो दृश्यमानशुक्तो स्मृते च रजते भेदमगृह्णानो रजतार्थो प्रवर्तते। अत्र स्मरणांशे न भ्रमः किन्तु रजतत्व प्रकारांशे भ्रमः। अत एवान्यथाख्यातिनाम्नः सार्थक्यम्। यद्यपि प्रत्यक्षस्मृतयोर्भेदः किन्तु



भेदाग्रहात् प्रवृत्तिरिति प्राभाकराणामख्यातिं स्मारयति। अत एवार्घस्वीकृत्या न्यायमुक्तावलीकारः प्राह, न क्षतिरिति। स्वसिद्धान्ते दन्तक्षतिर्मा भून्नखक्षतिस्तु भवेदेव।

### ग. भाट्टमीमांसकानामन्यथाख्यातिः

यद्यपि विपरीतख्यातिनाम्नैव भाट्टाः स्वमतं पुरस्कुर्वन्ति किन्तु तन्मतैकदेशिनो विश्वेश्वरगागाभाट्टाः प्रभाकरमतं निराकुर्वाणा अन्यथाख्यातिं स्थापयाम्बभूवुः।

1. अतोत्रासंसर्गाग्रहस्य प्रवृत्तिव्यवहागदिहेतुत्वानुपपत्तेर्नाख्याति-  
सम्भवः। तेनान्यथाख्यातिरूप- रजतत्व- विशिष्टज्ञानस्यैव  
ग्रहे प्रवृत्तिनिमित्तता युक्ता। (भाचि, पृ. 21)
2. भ्रान्तिज्ञस्य बाधादेव प्रवृत्यभावोपपत्तेः। परकीय-  
रजतप्रकारकज्ञानवतः क्षणविलम्बेन रजतत्वप्रकारक-ज्ञानादेव  
प्रवृत्यङ्गीकारात्। (तत्रैव)
3. ज्ञानविषयक-ज्ञानत्वेन प्रवृत्यङ्गीकाराद् वा न दोषः।  
(तत्रैव)
4. यद् वा रजतविषयकप्रवृत्तित्वावच्छिन्नं प्रति रजतत्वप्रकारता  
निरूपक-रजतनिष्ठमुख्यविशेष्यताशालिज्ञानत्वेन हेतुत्वान्न  
काप्यनुपपत्तिः। (तत्रैव)
5. किञ्च सर्वत्र प्रवृत्तौ नासंसर्गाग्रहो हेतुः, सर्वत्र प्रवृत्यापत्तेः।  
किन्तु प्रमाजन्त्यप्रवृत्तौ तत्प्रकारकनिश्चयो हेतुः, भ्रमजन्त्यप्रवृत्तौ  
चासंसर्गाग्रह इति कार्यकारणभावद्वय-कल्पनागौरवम्। मम  
तु सर्वत्र प्रवृत्तौ तत्प्रकारकनिश्चयत्वेनैव हेतुत्वमिति लाघवम्।  
(तत्रैव)

गागाभाट्टाः स्पष्टं प्रावोचन्, अयं ख्यातीनां विवादः सविकल्पकप्रत्यक्षमेव विषयीकरोति। तत्रैव हि वैमत्यं दृश्यते। तत्रेयं समीक्षा ---

अ. कतिपये चार्वाकाः सविकल्पकप्रत्यक्षमनङ्गीकुर्वाणा गोत्वादजातीनां गवादिव्यक्तीनां च भेदं प्रत्याचक्षते। नास्ति किञ्चिद् विशिष्टं ज्ञानमितीमे निर्विषयख्यातिवादिनां निगद्यन्ते। विशिष्टस्य वस्तुनो प्रामाणिकताऽनुभवसिद्धैवेति अवयविनो धर्मिणो वापि सत्ता प्रामाण्यं भजति। प्रभाभ्रमयोरन्तरमपि प्रमाणसिद्धमेव।

आ. विज्ञानवादिनः शून्यवादिनोऽपि बौद्धाः निरालम्बनवादिन एव। विज्ञानवादिन आत्मख्यातिं स्थापयन्ति। सविकल्पकं च ज्ञानं मिथ्या घोषयन्त इमे बाह्यार्थान् स्वप्नवत् तृणाय मन्यन्ते। क्षणिकविज्ञानसन्तान एव तन्मते विषयतया विषयितया च भासते। इदं मतं खण्डयन्तः प्राहुः, स्वप्नप्रत्यया नात्मविषयका भवन्ति इति दृष्टान्त एवासिद्धः। नीलप्रतीतिश्चेदात्मरूपा तर्हि अहं नील इति किन्नात्मानं घोषयति द्रष्टा? एवं च विशिष्टज्ञानमपि प्रमैवेति।

इ. असत्ख्यातिरपि विज्ञानाकारख्यातिरेव। तथा हि---

शून्यवादी तु न ज्ञानातिरिक्तो बाह्यो विषयोऽस्ति ---- तेन सविकल्पकं न प्रमा। ---- स्वप्नादि-ज्ञानानां साकारत्वमिव सर्वेषां साकारत्वेन ज्ञानातिरिक्त-विषयभाव इति स्वमतं परिष्करोति।  
(तत्रैव, पृ. 19-20)

तदप्यसमीचीनम्। वस्तुतस्तु अन्यथाख्यातिरेव शरणम्। एवं चान्यसम्बन्धित्वेनावगतानामन्यसम्बन्धित्वे भानं शुक्तिरजतज्ञानवत्। इयमेव चान्यथाख्यातिः।  
(तत्रैव, पृ. 20)

ई. प्राभाकराणामख्यातिवादोऽपि न घटते। ते हि भ्रमस्थले असंसर्गाग्रहरूपामख्यातिं स्वीकुर्वन्ति। पुरोवर्तिशुक्तेः प्रत्यक्षं विपणिस्थरजतस्य च स्मृतिः, अनयोर्नास्ति संसर्गस्तथापि असंसर्गस्य ज्ञानं न भवतीति तेषां मतम्। असंसर्गस्याग्रहेण च प्रवृत्तिरपि घटते। प्रभाकरमतमपि खण्डयन्तेऽन्यथा-



ख्यातिमेवातिष्ठिपन् गागाभट्टाः। तथा हि ---

न च बाह्यविषयेषु मनसस्तदानीमसम्बन्धात् कथं भानमिति  
वाच्यम्, ज्ञानलक्षणायाः प्रत्यासत्तेरङ्गीकारात्। प्रमुष्टतत्ताक-  
स्मरणाङ्गीकाराद् वा न दोषः। (तत्रैव)

शेषं तावद् विपरीतख्यातिशीर्षके द्रष्टव्यम्।

घ. माध्वानामन्यथाख्यातिवादः

वैशेषिका इव माध्वा अपि विपरीतार्थनिश्चयं विपर्ययं घोषयन्ति।  
अतो विपरीतख्यातिवादोऽन्यथाख्यातिवादो वा तेषामभिमतः।  
भ्रमव्याख्याने तथैवाक्तम् यत्किञ्चित् सादृश्यमात्रज्ञानेनापि  
अतिपरिचयशून्यस्य भेदकधर्मानुपलम्भसाहित्येन चैत्रासमवधाने  
चैत्रान्यस्मिन्नपि चैत्र-व्यत्यय-भेद-भ्रमोनुभवसिद्धः।

(दश प्रकरणानि, पृ. 262)

यद्यपि विपरीतख्यातिवाद एवाङ्गीकृतो माध्वैः तथापि वैशेषिकैरविद्यावर्ग  
स्वाप्नी प्रतीतिरङ्गीक्रियते, नेह तथा ---

स्वाप्नानां सत्यत्वात् ----- जगद्बाधेन तिरोधानमेव  
नोच्छेदः ----- तेषु बहिष्ठत्वांशे भ्रमत्वेपि तादृशभ्रमस्य  
संसारिमात्रसाधारणतया न विशिष्य लोकव्यवहारः।

(तत्रैव, पृ. 263)

ङ. दाक्षिणात्यशैवानामन्यथाख्यातिवादः

शिवाग्रयोगीन्द्र शैवपरिभाषायां (पृ. 26-27) संक्षेपेणान्यथाख्यातिं  
पुरस्कृत्वाणोऽन्यवादान् प्रत्याचख्यौ ---

1. भ्रमस्थले प्राभाकरैर्ज्ञानद्वयं स्वीक्रियते प्रत्यक्षं स्मृतिश्च।  
रजतार्थिन एकस्मिन्नेवाधिकरणे इदं रजतमिति एकं ज्ञानं  
जायते तत्र ज्ञानद्वयं न सम्भवतीति अख्यातिवादो नाभ्युपेयः।

2. अद्वैतवेदान्तिनां मतेन रङ्गादावनिर्वचनीयरजतस्योत्पत्तिरिति न क्षोदक्षमम्, उत्पत्तिसामग्र्या एव तत्राभावात्।
3. असत्ख्यातिवादोऽपि न सङ्गच्छते। असतो नोत्पत्तिर्न वा प्रतीतिः शक्यते।
4. बुद्धिस्वरूप आत्मनि रजताभास इत्यात्मख्यातिवादोऽपि न विचारसहः। अहमेव रजतमिति प्रतीतेरनिष्टप्रसङ्गात्। तस्मिन् हि मते विज्ञानमेव द्रष्टृ दृश्यं चेति स्वीक्रियते।

### सिद्धान्तश्च

तस्मादितरासां ख्यातीनामप्रामाणिकत्वादप्रमान्यथाख्यातिरेव। केयमप्रभा याऽन्यथाख्यातिरिति स्थापिता? विशेष्यवृत्यप्रकारकज्ञानत्वम्, अतद्वति तत्प्रकारकज्ञानत्वं वा अप्रमा।

+       +       +       +       +



## अभेदख्यातिवादः

मीमांसामनीषोपस्कृताद्वैतब्रह्मप्रतिष्ठापका मण्डनमिश्राः पूर्णमभेद-  
मातिष्ठन्तः ख्यातिविषयेऽप्यभेदमेव परिनिष्ठापयन्ति। अविद्याकृत-  
भेदमूलकंऽपि व्यवहारं तत्त्वाभेद एव तिष्ठतीति, सविकल्पकं प्रत्यक्षमपि  
मौलमद्वैतं न जहाति। भेदख्यातेर्मूलमविद्येति मन्वानाः प्रावोचन्---

अभेदो वा परमार्थः। तस्यानवच्छिन्नस्यानन्तस्य तथा  
निश्चेतुमशक्तः, अनादित्वाच्चाविद्यायाः, तदुपादानास्तद्विषया  
भेदपरिकल्पनाः। दृष्टा हि तरङ्गभेदादभिन्ने चन्द्रमसि भेदकल्पना।  
(ब्रह्मसिद्धिः 2/12)

यद्यपि ख्यातयो भिद्यन्ते तथापि वस्तुभेदो नावकल्पते, तदाहुः---

प्रख्याभेदो न वस्तुभेदव्यवस्थायै प्रभवति। (2/13)

अद्वैतवेदान्ते अविद्या-तत्कार्याणामनिर्वचनीयत्वेन ख्यातेरपि अनिर्वचनीयता  
स्थाप्यते। मण्डनमिश्रास्तु भेदप्रख्यामेवानिर्वचनीया- माकलयामासुः ---

तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयोऽनादिविकल्पवासनोपादानविकल्प-  
परिदर्शित-शरीरोऽयमस्माद् भिन्नोऽयमनयोर्भेद इति व्यवहारं  
प्रवर्तयति। न भेदो नाम किञ्चिद् वस्तु, यस्य तत्त्वमन्यत्वं  
वा किञ्चिद् विचार्यते। (तत्रैव 2/5)

नेह भेदसहिष्णुरभेदः कल्प्यते, किं तर्हि, अभेद एव परमार्थो  
भेदं स्व-स्वरूपं समावेशयति---

एकस्यैवैष महिमा भेदसम्पादनासहः ।

वहनेरिव यदा भावभेदकल्पस्तदा मुधा ॥ (2/8-9)

विधिस्वरूपं वस्तु यथावदास्ते। विधिक्रोडे निषेधो लभ्यते, विधेः  
स्वरूपान्तःपतितत्वात्---

लब्धरूपे क्वचित् किञ्चित् तादृगेव निषिध्यते।  
विधानमन्तरेणातो न निषेधस्य सम्भवः ॥ (2/2)

अपि च तत्रैव स्वोपज्ञवृत्तिः ---

न व्यवच्छेदपूर्वकं विधानम्। यतः सिद्धे विषये सिद्धरूपमेव  
निषिध्यते। नेदमिह, नायमयमिति सिद्धे भूतले सिद्धो घटः,  
गवि वाश्वः। न प्रतिषेध्यात् प्रतिषेधविषयाच्च विना  
प्रतिषेधोऽयकल्पते। खपुष्पादिषु तावत् सिद्धेषु खदिषु तद्विधाः  
पुष्पादयो निषिध्यन्ते। अन्यथा दैवनिषिद्धे कः प्रतिषेधोऽप्राप्तरूपे?  
प्राप्तरूपे वा कथमत्यन्ताय प्रतिषेधः?

वस्तुतो विधिपूर्वकोऽपि भेदो न शक्यते ---

क्रमः सङ्गच्छते युक्त्या नैकविज्ञानकर्मणोः ।  
न सन्निहितजं तच्च तदन्यानशि जायते ॥ (2/3)

अत्रायमर्थो वृत्त्यनुसारी। एकेन प्रमाणेन ज्ञानव्यापारद्वयं न युगपत्  
प्रकल्पते, अतो विधेर्व्यवच्छेदस्य च क्रमो न प्रतिष्ठानमर्हति। क्षणिको  
हि ज्ञानव्यापारो विधिरूप एव। द्वितीयश्च समीपस्थो ज्ञानव्यापारः  
सिद्ध एव व्यवच्छेद्ये घटते। शुक्तिरजतस्थले यत्र क्षणे रजतज्ञानं  
जन्यते तस्मिन् न तस्य बाध्यता प्रकाशते, शुक्तिज्ञानक्षणे पुनः  
रजतज्ञानं नास्ते। स्मरणेनैव रजतस्य बाधो व्यवह्रियते किन्तु अन्यज्ञानस्य  
विषयः कथमन्यज्ञानेन बाध्येत? तथा चायं राद्धान्तः ---

न भेदो वस्तुनो रूपं तदभावप्रसङ्गतः ।  
अरूपेण च भिन्नत्वं वस्तुनो नावकल्पते ॥ (2/5)

ज्ञानं खलु वस्तुत्वेन पुरुषतन्त्रम् ---

पौरुषेयीमपेक्षां च न हि वस्त्वनुवर्तते। (2/6)

वस्तुतन्त्रे च ज्ञाने वस्तुनो यथावत्ता न हीयते संवादं विसंवादं च  
पुरस्कृत्यार्थक्रियाकारितामभिलक्ष्य भेदो न संगच्छते। तदेव वस्तु  
देशकालक्रियाभेदेन मायाकृतेन व्यवहारतो भिन्नं प्रतीयमानमपि न  
वस्तुतो भिद्यते ---



अर्थक्रियाकृते भेदे रूपभेदो न लभ्यते ।  
दाहपाकविभागेन कृशानुर्न हि भेदवान् ॥ (2/7-8)

+ + + + +

प्रतिवादान् प्रत्याख्याय मण्डनमिश्रपादैः स्वसिद्धान्तः पुरश्चक्रे---

आलोच्यते वस्तुमात्रं ज्ञानेनापातजन्मना ।  
अचेत्यमानो भेदोऽपि चकास्तीत्यतिसाहसम् ॥ (2/27)

ये खलु आपातज-निर्विकल्पक-प्रत्यक्षेण वस्तुमात्रस्याभिन्नस्यालोचनं  
स्वीकुर्वन्ति तेऽमी भाट्टा अचेतनावस्थायां भेदमप्यव्याहतं मन्यन्त  
इत्यतिसाहसं तेषाम्। यदा निर्विकल्पकेनाभेदबोधस्तदा स एव यथार्थः।  
तथा च सविकल्पकेऽपि तावानेवांशो यथार्थो यत्राभेदः ख्यायते,  
भेदख्यातिस्तु अविद्याजन्या मिथ्यैवेति भावः।

दर्पणादौ मुखस्यैव भेदोऽभेदावलम्बनः ।  
भेदावलम्बनोऽभेदो न तथा, तदभावतः ॥  
प्रत्येकमनुविद्धत्वादभेदेन मृषा यतः ।  
भेदो, यथा तरङ्गाणां भेदाद् भेदः कलावतः ॥  
(2/30-31)

भेदमात्रमविद्याया निष्पत्तिरिति प्रतिभासस्य व्याख्या स्वत एव भवति---

प्रतिष्ठितं च विज्ञानमर्थमात्रावलम्बनम् ।  
भेदेषु त्वप्रतिष्ठत्वमस्तीन्द्रियधियामपि ॥ (2/28)

अभिन्नमर्थमालम्बते विज्ञानमिति सिद्धान्तः। इन्द्रियाणि च बुद्धिश्च  
भेदमवलम्बन्त इति न यथार्थज्ञानं जनयन्ति। स्वोपज्ञवृत्तौ चेदं  
स्पष्टीकृतम्---

स्यादेतत्। मानस्यैव बुद्धयः क्लृप्तयोग्यभावा मिथ्यात्वं प्रति  
नैन्द्रियजन्मानः। इन्द्रियबुद्धिसमधिगम्याश्च भेदा इति। एतच्च  
वार्तम्। इन्द्रियदोषानुविधायित्वाद् भ्रान्तीनाम्।

अयं भावः। प्रमाणबुद्ध्य एव प्रमेयनिश्चयरूपा भवन्ति, ता एव चेन्द्रियजन्याः, मिथ्यात्वबुद्ध्यस्तु नेन्द्रियजन्मानः, भेदाश्चेन्द्रियं स्तज्जन्यबुद्धिभिश्च गृह्यन्त इति भेदा यथार्था एवेति प्रत्यवस्थानम्। तच्चाकाशोत्पादनवद् व्यर्थम्। सर्वा हि भ्रान्तय इन्द्रियदोषजन्या इति नापलपितव्यतामर्हतीति।

व्यवहारे भेदाभासः, शुक्त्यादिषु च रजताद्याभास इति भ्रमद्वितयो नाविद्याजन्यतामतिरिच्यते। प्रतिभासेषु इन्द्रियदोषसहकृताऽविद्या जनिका, भेदाभासे च केवलैवाविद्येति विवेकः। अविद्याराहित्यमेव ख्यातां हेतुरिति विद्याजन्या खलु अभेदख्यातिरेव, सा चात्मख्यातिरपीति दिक्।

+ + + + +



## असत्ख्यातिवादः

प्रत्यक्षप्रमा निर्विकल्पिकैव भवतीति बौद्धाः। अत एव दिङ्नागः  
प्राह---

“प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्यादियोजना कल्पना”।

कल्पनारहितमेव प्रत्यक्षं भवति। पञ्च तावत् कल्पना भवन्ति  
जातिर्, द्रव्यं, गुणः, क्रिया, नाम चेति। अमीभिः पञ्चभिर्विकल्पैर्यत्  
सविकल्पकं ज्ञानं जायते तन्न परमार्थसत्तामवगाहते। अष्टादश धर्मा  
एव परमार्थतः पारमार्थिका भवन्ति। धर्माश्च रूपादयः क्षणिका एव।  
यस्मिन् क्षणे चक्षूरूपे उत्पद्येते तस्मिन् क्षणे चक्षुर्विज्ञानं न जायते।  
यदा चक्षूरूपे निरुध्यते तदैव चक्षूरूपे प्रतीत्य चक्षुर्विज्ञानं समुत्पद्यते।  
एतस्मिन् प्रतीत्यसमुत्पादेऽवयविनः समुदायस्य वा वस्तुसत्ता नास्ति।  
तथापि व्यावहारिकी सत्ता विद्यत एवेति सर्वेऽप्यवयविनो धर्मिणो वा  
सांवृता निगद्यन्ते। सांवृताश्च पदार्थाः परमार्थतो यद्यपि न विद्यन्ते  
तथापि व्यवहारं निर्वाहयन्ति। सविकल्पकज्ञानविषयीभूता इमे धर्मिणो  
वस्तुसत्तामभजन्तोऽपि व्यवहाराय पर्याप्नुवन्तीति तेऽनुमानस्यैव विषयाः,  
न तु प्रत्यक्षस्य। इत्येवं सविकल्पिका ख्यातिर्निरालम्बनैव भवति,  
क्षणिकान् धर्मानतिरिच्य धर्मिणः सत्ताया असम्भवात्।

बौद्धानां मुख्यतो द्वयी गतिः। क्षणिकविज्ञानधारैव विकल्प-  
रूपतामवगाहमाना सविकल्पकख्यातेर्विषयतां भजतीति विज्ञानवादिनो  
योगाचाराः। धर्मिणः सर्वथाप्यसत्तां पारमार्थिकीममन्वानाः शून्यवादिनो  
माध्यमिकास्तु निरालम्बनामेव ख्यातिमातिष्ठन्ति। इयमेवासत्ख्यातिः।  
तत्त्वं तु चतुष्कोटिविनिर्मुक्तम्। अस्तीति, नास्तीति, अस्तिनास्तीति,  
नाप्यस्ति नापि नास्तीति चतस्रः कोटयः। यत्र कोटयो भवन्ति तत्र  
क्रमरूपता प्रतीयते। अतश्चोक्तम् ---

“सदसत् सदसच्चेति सदसन्नेति च क्रमः ।  
एष प्रयोज्यो विद्वद्भिरेकत्वादिषु नित्यशः ॥”

(चतुःशतकम् पृ. 16/10)

कोटिष्वेव विश्वं विभक्तम्। कोटिरहितमेव चिरस्थायि भवति।  
तच्चाभावरूपम्, यथाकाशः। अत एव चतुःशतककारः पुनः प्राह---

“प्रतीत्य सम्भवो यस्य स स्वतन्त्रो न जायते।  
न स्वतन्त्रमिदं सर्वं स्वयं तेन न विद्यते॥”

(चतुःशतकम् 14/23)

तस्मादिह प्रतीत्यसमुत्पन्नं वस्तु मायामात्रं न वस्तुसत्।  
असत्ख्यातिशब्दे आलम्बनाभाव एवासत्पदार्थः।

ख्यातिविषये नागार्जुनोक्तम्---

नैवासतो नैव सतः प्रत्ययोऽर्थस्य युज्यते।  
असतः प्रत्ययः कस्य सतश्च प्रत्ययेन किम् ॥

(मशा 1/8)

सम्यग्ज्ञानस्य मिथ्याज्ञानस्य वा स्वरूपसत्तैव नास्तीति  
सविकल्पकविषयेषु प्रमा वा ध्रमो वेति जल्पो वृथा। तथा च  
मध्यमकशास्त्रे नागार्जुनः पुनः प्रोवाच---

अविद्यमाने ग्राहे च मिथ्या वा सम्यगेव वा।  
भवेद् विपर्ययः कस्य भवेत् कस्याविपर्ययः॥

(मशा 23/16)

अस्मिन् प्रसङ्गे नासच्छब्दः कथमप्यभावं व्यनक्ति। यन्नाम प्रतीत्य  
समुत्पद्यते, तस्य भावो वाऽप्यभावो वा न निगदितुं शक्यते। अत  
एवोक्तमार्यदेवेन चतुःशतके ---

यत्राणोरपि सद्भावो नास्ति तत्र कथं भवः।  
अभावोऽपि च बुद्धानां तस्मादेव न युज्यते॥

(चतुःशतकम् 16/11)

यदा ज्ञानस्य व्यवहारे विषयतैव नास्ति तदा शून्यवादिनां प्रस्थाने असत्ख्यातिरेव मान्या भवति येयं निरालम्बनख्यातिरपि निगद्यते।

+ + + + +

विज्ञानवादिनां शून्यवादिनां च मतं पुरस्कुर्वन्तः कुमारिलभट्टपादाः प्राहुः ---

तत्रार्थशून्यं विज्ञानं योगाचाराः समाश्रिताः।

तस्याप्यभावमिच्छन्ति ये माध्यमिकवादिनः ॥

तत्र बाह्यार्थशून्यत्वं तुल्यं तावद् द्वयोरपि ।

(श्लोवा, निरालम्बन 14-15)

शून्यवादिनां निरालम्बनख्यातेः स्वरूपं चन्द्रकीर्तिना आर्यरत्नावल्याः श्लोकमुद्धृत्य स्पष्टीकृतम् ---

नैवात्मा नैव चानात्मा यथाभूतेन लभ्यते ।

आत्मनात्मकृते दृष्टी ववारास्मान्महामुनिः ॥

(मशा-टीका 18/6)

इतः पूर्वं चन्द्रकीर्तिनैव आर्यरत्नकूटस्यांशः समुद्धृतः---

आत्मेति काश्यप अयमेकोन्तः। नैरात्म्यमित्ययं द्वितीयोन्तः।

यदेतदनयोरन्तयोर्मध्यं तदरूप्यमनिदर्शनमप्रतिष्ठमनाभासम-

विज्ञप्तिकमनिकेतम्।

अयमत्र सारांशः। विज्ञानधारासु पूर्वविज्ञानमुत्तरविज्ञानं जनयित्वैव क्षीयते। क्षणिकमिदं विज्ञानं विषयान्तरग्रहणाय क्षणान्तरे नोपतिष्ठते। पूर्वक्षणे यार्थबुद्धिर्निर्विकल्पिका जायते सा सविकल्पकज्ञानपर्यन्तं नैव सङ्क्रामति। अत एव सविकल्पकख्यातिर्निरालम्बनैव गन्धर्वनगरवत् प्रतीयते तथा चाह धर्मकीर्तिः प्रमाणवार्तिके ---

आत्मविज्ञानजनने शक्तिसंक्षयतः शनैः।

विषयान्तरसञ्चारो यदि सैवार्थधीः कुतः ॥

(प्रवा 2/520)



कुमारिलभट्टमनुसृत्य गागाभट्टः पश्यति---

शून्यवादी तु न ज्ञानातिरिक्तो बाह्यो विषयोऽस्ति, ज्ञानस्यैवाकारं  
विषयो ज्ञानस्वरूपात्मक एव, स्वप्न ज्ञानवत्। तेन सविकल्पकं  
न प्रमा। (भाचि, पृ. 19)

इमे माध्यमिकाः सविकल्पकज्ञानस्य विषयमेव प्रत्याचक्षत इति  
निर्विषयख्यातिमेवानुरुन्धते।

+ + + + +

## आत्मख्यातिवादापरनामा विज्ञानाकारख्यातिवादः

आत्मख्यातिशब्दघटक आत्मशब्द इह विज्ञानपर्यायः। विज्ञान-  
वादिनो योगाचारा बौद्धा व्यवस्थापयन्ति विज्ञानसन्तान एव आत्मेति।  
स एवात्मानादिवासनाभिस्तांस्तान् विषयीभावान् प्रतिपद्यते। क्षणिकविज्ञान-  
मेवार्थाकारं गृहीत्वा निर्विकल्पकविषयतां भजमानं सत् प्रत्यक्षतां  
लभते। क्षणिकतया तस्यार्थाकारः सविकल्पक ख्यातिसमये नावतिष्ठते  
प्रत्युतान्यदेव ख्यायते। प्रत्यक्षकालिकाद् भिन्नत्वेन सविकल्पकबोधो  
मिथ्यैव। तत्त्वतो मिथ्यात्वेऽपि प्रमात्वाप्रमात्वयोर्बाह्यार्थसंवादविसंवादौ  
विविच्य व्यवहारः। संवादश्चार्थ- क्रियाकारितया निर्णयते। तथा चाह  
धर्मकीर्तिः ---

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः।

मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ॥ (प्रवा 2/57)

अयमर्थः। मणिबुद्ध्या मणिप्रभां पश्यन्नेको धावति द्वितीयश्च  
दीपप्रभामवलोकमानः। उभयोरपि ज्ञानं मिथ्यैव। क्षणिका मणिप्रभापि  
मणिर्नास्तीति तत्रापि मिथ्याज्ञानमेव। अर्थक्रियामधिकृत्य तु भेदो लभ्यते।  
मणिप्रभां प्रति मणिबुद्ध्या धावन् मणिं लभत इति अर्थक्रियाकारिता  
तत्र दृश्यते। निर्विकल्पकज्ञाने उभावपि मणिलोलुपौ पुरुषौ समानौ  
किन्तु सविकल्पके ज्ञाने सांवृते स्पष्टमन्तरं प्रतीयते।

ननु विज्ञानवादोऽप्यसत्ख्यातिवादः किं न स्यात्, तत्रापि  
बाह्यपदार्थमन्ताया अभावादिति चेन्न। बाह्यविषयाणां-विज्ञानाकार-  
ख्यातिरभ्युपेयत इत्यात्मख्यातिनाम्ना ख्यातत्वात्। अत्र विषये वसुबन्धुराचार्यो  
जगाद---

विज्ञप्तिमात्रमेवेदमसदर्थविभासनात्।

यद्वत् तैमिरिकस्यासत् केशोण्डादिकदर्शनात्॥

(विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः 1/1)

अयं भावः। द्वितीयविज्ञानक्षणे प्रथमविज्ञानाकारस्य नष्टत्वेन द्वितीयक्षणे प्रत्यक्षस्य सत्तैव नास्ति। विज्ञानमेव तथा तथा भासते---

प्रत्यक्षबुद्धिः स्वप्नादौ यथा, सा च तदा यदा ।

न सोऽर्थो दृश्यते तस्य प्रत्यक्षत्वं कथं मतम् ॥

(तत्रैव 1/16)

अस्मिन् मते विज्ञानस्य परिणामविशेष एवात्मा। तस्मादेव विश्वं प्रतिभासते। लोके शास्त्रे च सर्वेपि व्यवहारा आत्मोपचारस्य धर्मोपचारस्य च वैविध्येन त्रिधा परिणामेन भासन्ते---

आत्मधर्मोपचारैः हि विविधो यः प्रवर्तते।

विज्ञानपरिणामोऽसौ परिणामः स च त्रिधा॥

(तत्रैव 2/1)

अयमत्र त्रिविधः परिणामः। प्रथमः खलु आलयविज्ञाननामा विपाकपरिणामः, स एवात्मा, स एव विश्वस्य बीजम्। द्वितीयश्च मननपरिणामो मनोविज्ञानम्। तृतीयश्च विषयविज्ञानरूपः परिणामः।

(तत्रैव 2/2-8)

आत्मख्यातिस्तर्हि कः पदार्थः? अनुभवमात्रं विज्ञानस्यात्मा स्वरूपमिति कृत्वा सर्वेप्यनुभवनीयाः पदार्था विज्ञानात्मान एवेति। तथा चाह धर्मकीर्तिः---

आत्मा स तस्यानुभवः स च नान्यस्य कस्यचित्।

प्रत्यक्षप्रतिवेद्यत्वमपि तस्य तदात्मता ॥

नान्योऽनुभाव्यस्तेनास्ति तस्य नानुभवोऽपरः।

तस्यापि तुल्यचोद्यत्वात् स्वयं सैव प्रकाशते॥

(प्रवा 2/326-27)

अपि च---

नीलाद्यनुभवात् ख्यातः स्वरूपानुभवोऽपि सन् ॥

(तत्रैव 2/324)



विज्ञानस्य स्वरूपानुभवमात्रमेव नीलादिख्यातितया व्यवह्रियते।

किञ्च---

तस्माद् द्विरूपमस्त्येकं यदेवमनुभूयते।  
 स्मर्यते चोभयाकारस्यास्य संवेदनं फलम् ॥  
 यदा निष्पन्नतद्भाव इष्टोऽनिष्टोऽपि वा परः ।  
 विज्ञप्तिहेतुर्विषयस्तस्याश्चानुभवस्तथा।  
 यदा सविषयं ज्ञानं ज्ञानांशोऽर्थव्यवस्थितः ॥  
 यदा य आत्मानुभवः स एवार्थविनिश्चयः ।

(प्रवा 2/337-39)

क्षणिकविज्ञानरूप एवात्मा वैविध्येन भासते---

1. एकमेव सत् क्षणिकं विज्ञानमनुभवरूपेणानुभवनीयरूपेण च द्वैविध्यं भजते।
2. क्षणान्तरे तदेव विज्ञानसंताने स्मृतिरूपतां लभते।
3. उभयाकारस्यापि विज्ञानस्य संवेदनं फलम्। ततश्च प्रमेयप्रमातृप्रमाणानां व्यवहारान् प्राप्नोति।
4. तदेव विज्ञानं बाह्यार्थाकाररूपेणेष्टानिष्टानुभवाकारं गृह्णाति।
5. इत्थं च विज्ञानरूपस्यैवात्मनो विविधाकारताव्यवस्थानात् स्वसंवेदनमात्मानुभव एव। स एवार्थविनिश्चयः।

अयमत्र संक्षेपः। क्षणिकविज्ञानानां संतान आलयविज्ञानरूपेण प्रमाता, मनोविज्ञानरूपेण प्रमाणं, प्रवृत्तिविज्ञानरूपेण च प्रमेयमिति त्रैविध्यं भजति।

+ + + + +

इयमात्मख्यातिः स्वख्यातिर्वा विज्ञानाकारख्यातिनाम्नापि प्रसिद्धिं गता। शून्यवादिनामसत्ख्यातिरपि प्रकारान्तरेणात्रैव - समावेशमर्हतीति प्राहुः। बाह्यपदार्थानां विज्ञानमतिरिच्य नास्ति कापि सत्तेति विज्ञाना-

कारख्यातिनाम्नो मूलम्। ननु यदि सर्वं विज्ञप्तिमात्रमेव तर्हि देशकालादिनियमः कथं घटत इति चेदत्र जगदुः---

देशादिनियमः सिद्धः स्वप्नवत् प्रेतवत् पुनः ।

सन्ताननियमः सर्वः पूय-नद्यादिदर्शने ॥

(विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः 1/3)

वासनाधीनो विज्ञानसंतानस्तथा तथा परिणमति, इति कृत्वा सर्वं विज्ञप्तिमात्रमेवेति साधयन्ति---

विज्ञानपरिणामोऽयं विकल्पो यद् विकल्प्यते।

तेन तन्नास्ति तेनेदं सर्वं विज्ञप्तिमात्रकम् ॥

सर्वबीजं हि विज्ञानं परिणामस्तथा तथा ।

यात्यन्योन्यवशाद् येन विकल्पः स स जायते ॥

(तत्रैव 2/17-18)

सविकल्पकं प्रत्यक्षं तावद् विज्ञानाकारमेव। अतः सविकल्पकं ज्ञानं नास्ति प्रमा। ख्यातिविषयस्य विज्ञानाकारता शून्यवादिभिरपि सुतरामभ्युपेयते। अत एवार्यदेवोपि तथैवाभिमनुते---

चक्षुषोस्ति न विज्ञानं विज्ञानस्य न दर्शनम्।

उभयं नास्ति रूपस्य ते रूपं दृश्यते कथम् ॥

(चतुःशतकम् 13/17)

अत एव गागाभट्टः पूर्वपक्षस्थापनायाम् ---- “शून्यवादी तु न ज्ञानातिरिक्तो बाह्यो विषयोस्ति, ज्ञानस्यैवाकारो विषयो ज्ञानस्वरूपात्मक एव, स्वप्नज्ञानवत्। तेन सविकल्पं न प्रमा”। --- इति स्वमतं परिष्करोति।

(भाचि, पृ. 19-20)

इत्थञ्च विज्ञानवादिनां मते यात्मख्यातिः शून्यवादिनां चासत्ख्यातिः, ते उभे अपि विज्ञानाकारख्यातिनाम्ना व्यवह्रियेते इति दिक्।

+ + + + +

## यथार्थख्यातिवादः

यत्किञ्चित्सविकल्पकं प्रख्यामवतरति, तत्सर्वं यथार्थमेव। तस्य ख्यातिरपि यथार्थैव, अर्थमतिक्रम्य ज्ञानस्यासम्भवात्। ज्ञानं हि अर्थं गोचरीकृत्यैव जायत इत्यत्र को विवादावसरः। ननु रङ्गे रजतस्य प्रतीतिः कथं यथार्थतामवगाहेत? मैवम्। तत्रापि रजतार्थिकायाः ख्यातेः कथमपि निहनोतुमशक्यत्वात्। ये नाम रजते रजतप्रतीतिमपि मिथ्यात्वेन गृह्णते, ते सौत्रान्तिका अद्वैतिनश्च प्रष्टव्याः, कथं तर्हि व्यावहारिक्यः प्रतीतयो भवन्तीति? यथार्थख्यातिवादा भारतीयदर्शनेषु त्रयः। प्रभाकरमीमांसकानामख्यातिवादः, विशिष्टाद्वैत-वैदान्तिनां सत्ख्यातिवादः, वैभाषिकबौद्धानां बाह्यार्थप्रत्यक्षवाद इति। इमे यथासंख्यमिह प्रतिपिपादयिषिताः।

### अथ प्रभाकरमीमांसकानामख्यातिवादः

अत्र शालिकनार्थमश्रपादानां प्रकरणपञ्चिकायां प्रतिज्ञावाक्यम्---

यथार्थं सर्वमेवेह विज्ञानमिति सिद्धये।

प्रभाकरगुरोर्भावः समीचीनः प्रकाशयते ॥ (प्र. पं. 3/1)

केचिदिह प्रत्यवतिष्ठन्ते---

तत्र तावदिदं केचिदूचिरे चारुचेतसः ।

भ्रमसन्देहविज्ञाने अयथार्ये उभे इति ॥ (तत्रैव 3/2)

क. शुक्ताविदं रजतमिति ख्यातिश्चेद् यथार्था, तर्हि भ्रमव्यवहारस्योच्छेद एव स्यात्, किं च भ्रमस्यापि यथार्थज्ञानत्वे स्वीकृते बाध बुद्धिर्न जायेत, अपि चैकस्मिन् धर्मिणि शुक्तित्वरजतत्वे प्रकारीभूते नावस्थातुमलम्। इत्येवमन्यथाख्यातिवादिनां पक्षः। इन्द्रियादिदोषेण



शुक्तौ रजतस्य रज्जौ वा सर्पस्य प्रतीतिरन्यथाख्यातिरेव, अन्यप्रकारिणि प्रकारान्तरवतः प्रख्यानात्।

ख. स्यान्मतं शुक्तिकामात्रमिन्द्रियेणावसीयते।  
तदेव सदृशत्वेन रजतस्मृतिकारणम्॥  
सदृशप्रत्ययेनेह संस्कारोद्बोधहेतुना ।  
तदित्युल्लेखरहिता रजते भवति स्मृतिः ॥  
स्मृतावस्यां मनोदोषात् तदित्यंशोऽवखण्डितः ।  
तेनेन्द्रियानुकारित्वमन्यथासिद्धमित्यसत् ॥

(तत्रैव 3/14-16)

भाट्टाः किल सादृश्यवशाच्छुक्तौ हट्टादिदृष्टस्य रजतस्य तत्ताप्रमोषसहितां स्मृतिं स्वीकुर्वन्ति। तत्ताप्रमोषेण सहकृतया स्मृत्या सेयमन्यथाख्यातिर्घटते। इदन्तैव शुक्तिविषयिणी शिष्यते, तत्र च तत्तारहितं रजतं प्रतीयत इति ज्ञानद्वयव्यामिश्रा प्रतीतिरवतरति। अत एव ते ब्रुवते---

1. अपरोक्ष-पुरोवर्ति-सामानाधिकरण्यतः।  
नेयं स्मृतिः किन्तु शुक्तौ भ्रान्तोऽयं रजतग्रहः।  
(तत्रैव 3/18)
2. तेनेन्द्रियादि-दोषेण जायन्ते भ्रान्ति-बुद्ध्यः।  
बुध्यमाना वस्तुरूपमन्यथास्थितमन्यथा ॥  
(तत्रैव 3/21)
3. स्थाणुर्वा पुरुषो वेति सन्देहो योऽपि जायते।  
अभावात् तादृशोर्थस्य स यथार्थः कथं भवेत्।  
(तत्रैव 3/22)

सिद्धान्तस्तावत्---

1. अत्र ब्रूमो, य एवार्थो यस्यां संविदि भासते।  
वेद्यः स एव नान्यद्भि विद्याद् वेद्यस्य लक्षणम् ॥  
(तत्रैव 3/23)

2. धारावाहिकवन्नेयं स्मृतिरित्युदितं च यत्।  
उच्यते नान्यगतितः स्मृतिरत्रावगम्यते ॥  
(तत्रैव 3/30)
3. प्रत्युत्पन्नेन्द्रियग्राम-सामग्री-ग्रह-कारणम् ।  
ग्रहणस्मरणे चेमे विवेकानवभासिनी ॥  
सम्यग्-रजत-बोधातु भिन्ने यद्यपि तत्त्वतः।  
तथापि भिन्ने नाभातो भेदाग्रह-समत्वतः॥  
(तत्रैव 3/33-34)
4. सन्निहित-रजतशकले रजतमतिर्भवति यादृशी सत्या।  
भेदानध्यवसायादियमपि तादृक् परिस्फुरति॥  
(तत्रैव 3/41)
5. ग्रहणस्य विशेषो हि गृहीतग्रहणं स्मृतिः।  
सा गृहीतांशमोषेण गृहीतिरिव तिष्ठति॥  
(तत्रैव 3/45)
6. गुणे द्रव्यव्यपेक्षे च द्रव्ये च गुण-काङ्क्षिणि ।  
भासमाने तयोर्बुद्धिरसम्बन्धं न बुध्यते॥  
(तत्रैव 3/50)
7. स्मरतोऽप्येकतां तेन भ्रमोऽयमुपपद्यते ।  
न हि स्मृतिप्रमोषेण सर्वत्रैव भ्रमो मतः ॥  
(तत्रैव 3/60)
8. दिङ्मोहे दृष्टसामर्थ्या दिक्स्वरूपानवग्रहात्।  
दिगन्तरस्वरूपस्य स्मरणाच्च भ्रमो मतः ॥  
(तत्रैव 3/61)
9. स्थाणुर्वा पुरुषो वेति सन्देहेऽपि यदा द्वयम्।  
स्मर्यतेऽन्योन्यनिर्मुक्तं तदार्थ-विरहःकुतः ॥  
(तत्रैव 3/65)

10. सममेतद् विपरीतख्यातिपक्षेऽपि दृश्यते।

अहो बत महानेष प्रमादो धीमतामपि ॥

(तत्रैव 3/68)

11. ज्ञानस्य व्यभिचारे हि विश्वासः किन्निबन्धनः।

ज्ञानस्य व्यभिचारेऽपि ज्ञातं यत् सत्यमेव तत्॥

(तत्रैव 3/69)

12. अयथार्थस्य बोधस्य नोत्पत्तावस्ति कारणम्।

दोषाश्चेन्न हि दोषाणां कार्यशक्तिविधातिता॥

(तत्रैव 3/73)

अत्रायं विवेकः। कौमारिलाः खलु तत्ताप्रमोषेण प्रत्यक्षस्मृतिरूपं ज्ञानद्वयमेकीभूतं सद् विलक्षणं ज्ञानं मन्वाना भ्रममन्यथाख्यातिं निगदन्ति। प्राभाकरास्तु यथार्थख्यातिमभ्युपयन्तः स्मृतिं प्रत्यक्षं च पृथङ्मन्वते। व्यवहारतो भ्रमे मान्येपि ज्ञानमीमांसायां नास्ति कश्चन भ्रमो नाम। ज्ञानं सदैव यथार्थमेव। तथा हि---

1. शुक्तिरजतस्थले स्मृतरजतस्य तत्तायाः प्रमोषेण विपणौ दृष्टमतीतं रजतं वर्तमानवत् प्रतीयते, शुक्तिस्तु शुक्तित्वं विहाय द्रव्यमात्ररूपेणेदन्तया प्रत्यक्षतां गाहते। ज्ञानद्वयस्य भेदाग्रहेण प्रवृत्तिरपि निर्बाधा भवति। बाधे तु जाते द्वितीयं यथार्थं ज्ञानमुदेति, प्रथमं ज्ञानं बाध्यते। ज्ञानस्य ज्ञानान्तरनाशयत्वं तूभयवादिसिद्धम्।

2. क्षीरस्य तिक्ततायाः शङ्खस्य च पीततायाः ख्यातौ द्रव्यमेव प्रत्यक्षं जायते। इन्द्रियगतपित्तस्य तिक्ततायाः पीतताया वा यथार्थ एव बोधः। क्षीरशङ्खयोस्तु माधुर्यसितिम्नोर्गुणयोः प्रमोषः।

3. द्विचन्द्रदर्शनस्थले एकत्वसङ्ख्यायाः प्रमोषः। नेत्रस्य प्रकाशो हि द्विधा विभज्यते। विभक्ताश्च रश्मयः पृथक् पृथक् यथार्थमेव चन्द्रं ख्यापयन्ति। तत्रापि असंसर्गाग्रह एव हेतुः।

4. अलातचक्रे कालभेदस्य प्रमोषः। निरन्तरमुत्पद्यमाना बुद्ध्यः पार्थक्यं न गृह्णन्ति।



5. दिग्भ्रमस्थले दिक्प्रमोषेण सह स्मृतदिशस्तत्ताया अपि प्रमोषः। तत्रापि प्रत्यक्षा दिक् प्रत्यक्ष-दिक्त्वं विहाय इदन्तयावशिष्यते, बोधद्वये विवेकाग्रहेण तादृक्ख्यातिर्भवतीति दिक्।

+ + + + +

विशिष्टाद्वैतवादिनां सत्ख्यातिवादः

रामानुजीयानां विशिष्टाद्वैतमते न केवलं व्यवहारस्थले, किन्तु प्रतिभासस्थलेऽपि ख्यातिर्यथार्थैव। इमां च यथार्थख्यातिं सत्ख्यातिनाम्ना व्यवहरन्ति। सतो वस्तुनः ख्यातिः, सतो चासौ ख्यातिश्चेति तन्निर्वचनम्। श्रीभाष्ये (1/1/1)--- अध्यासखण्डनावसरे रामानुजाचार्या अनिर्वचनीयख्यातिवादं निरस्य स्वाभिमतं स्थापयाम्बभूवुः। अनन्तरं च कारिकाभिः सत्ख्यातिमुपोद्बलयाञ्चक्रुः। कारिका एवात्र सङ्गृह्यन्ते---

1. यथार्थं सर्वविज्ञानमिति वेदविदां मतम्।

श्रुतिस्मृतिभ्यः सर्वस्य सर्वात्मत्वप्रतीतितः॥

(ब्रसू. श्रीभाष्यम् पृ. 143)

2. बहु स्यामिति सङ्कल्प-पूर्व-सृष्ट्यामुपक्रमे।

तासां त्रिवृतमेकैकमिति श्रुत्यैव चोदितम् ॥

(तत्रैव, पृ. 143)

3. त्रिवृत्करणमेवं हि प्रत्यक्षेणोपलभ्यते।

यदग्रे रोहितं रूपं तेजसस्तदपामपि॥

शुक्लं कृष्णं पृथिव्याश्चेत्यग्नावेव त्रिरूपता।

श्रुत्यैव दर्शिता तस्मात् सर्वे सर्वत्र सङ्गताः॥

पुराणे चैवमेवोक्तं वैष्णवे सृष्ट्युपक्रमे।

(तत्रैव, पृ. 143)

4. नानावीर्याः पृथग्भूतास्ततस्ते संहतिं विना।

नाशक्नुवन् प्रजाः स्रष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः॥

समेत्यान्योन्यसंयोगं परस्परसमाश्रयाः।

महदाद्या विशेषान्ता ह्यण्डमित्यादिना ततः ॥

(तत्रैव विष्णुपुराणादुद्धृतम्, पृ. 143)

5. सूत्रकारोऽपि भूतानां त्रिरूपत्वं तथाऽवदत्।

त्रयात्मकत्वात् तु भूयस्त्वादिति तेनाभिधिभिदा॥

(तत्रैव, पृ. 144)

6. सोमाभावे च पूतीकग्रहणं श्रुतिचोदितम्।

सोमावयवसद्भावादिति न्यायविदो विदुः।

ब्रीह्यभावे तथा नीवारग्रहणं ब्रीहिभावतः।

तदेव सदृशं तस्य यत् तद्द्रव्यैकदेशभाक्॥

(तत्रैव, पृ. 144)

7. शुक्त्यादौ रजतादेश्च भावः श्रुत्यैव चोदितः।

रूप्यशुक्त्यादिनिर्देशो भेदो भूयस्त्वहेतुकः॥

(तत्रैव, पृ. 144)

8. रूप्यादिसदृशश्चायं शुक्त्यादिरुपलभ्यते।

अतस्तस्यात्र सद्भावः प्रतीतेरपि निश्चितः॥

(तत्रैव, पृ. 144)

9. कदाचिच्चक्षुरादेस्तु दोषाच्छुक्त्यंशवर्जितः।

रजतांशे गृहीतोऽतो रजतार्थं प्रवर्तते॥

(तत्रैव, पृ. 144)

10. दोषहानौ तु शुक्त्यंशे गृहीते तन्निवर्तते।

अतो यथार्थ-रूप्यादि-विज्ञानं शुक्तिकादिषु॥

(तत्रैव, पृ. 144)

11. बाध्यबाधकभावोऽपि भूयस्त्वेनोपपद्यते।

शुक्तिभूयस्त्व-वैकल्य-साकल्य-ग्रहरूपतः॥

(तत्रैव, पृ. 145)



12. नातो मिथ्यार्थ-सत्यार्थ-विषयत्वनिबन्धनः।

एवं सर्वस्य सर्वत्वे व्यवहारव्यवस्थितिः।।

(तत्रैव, पृ. 145)

1. जीवस्य भोगार्थमीश्वरेण स्वप्नस्य रचना क्रियते उपनिषदां मन्त्रा अप्यत्र प्रमाणम्। जीवेन कथमत्र भोग इति चेदाकर्ण्यताम्---

अपवरकादिषु शयानस्य स्वप्नदृष्टाः स्वदेहेनैव देशान्तरगमन-  
राज्याभिषेकशिरश्छेदादयः पुण्यपापफलभूताः शयानदेहरूपसंस्थान-  
देहान्तरसृष्ट्योपपद्यन्ते। (तत्रैव, पृ. 146)

2. शङ्खः पीतो दृश्यत इत्यत्र नेत्रगतपितेन संयुक्ता नेत्ररश्मयः  
शङ्खेन सन्निकर्षं लभन्ते, येन श्वेतिमाऽभिभूयते, पीतिमा नेत्रगता  
शङ्खे क्षिप्यते अत एव तत्रापि यथार्थैव ख्यातिः।

3. स्फटिके प्रतिबिम्बितस्य जपाकुसुमस्य प्रमा स्फुटं दृश्यते, नात्र  
भ्रमः।

4. मृगमरीचिकासु जलज्ञानं यथार्थमेव। तेजसि पृथिव्यां च जलं  
विद्यत एव। इन्द्रियदोषाददृष्टवशाच्च जलमात्रं गृह्यते।

5. अलातचक्रस्य प्रतिपत्तिरपि यथार्थैव। द्रुततरगत्या सर्वदेशसंयोगो  
जायते, शीघ्रतावशेनान्तरालग्रहणं न भवति। रथचक्रस्यापि गतौ  
शीघ्रतायां सत्यां नान्तरालप्रतीतिः।

6. सर्वत्र सर्वा अपि दिशो वर्तन्त एवेतीश्वरकृतैव व्यवस्था सूर्यस्यो-  
दयास्तवशात् प्राच्यादीनां कल्पना भवति। अत एव दिग्भ्रमे दिशो  
यथार्थख्यातिरेव।

7. द्विचन्द्रप्रतीतौ विभक्ता नेत्ररश्मयो यथार्थमेव चन्द्रद्वयं ख्यापयन्ति।  
मेघनादसूरिणा स्पष्टीकृतम् ---

ग्रहणे च न यौगपद्यम्। तयोरुपक्रान्तार्जवानार्जवयोश्चैका स्वदेश-  
विशिष्टचन्द्रग्राहिका, अपरा तु समीप-देशग्राहिका सती अन्तराला-  
ग्रहणपूर्व-स्वदेशवियुक्त-चन्द्रग्राहिका। ---- भ्रान्तित्व-  
व्यवहारस्तु दोषोपाधिनिरूपणात्। धारावाहिकविज्ञाने तु साम्प्रयभेदाद



ग्राह्याकारभेदाच्च न द्वित्वान्वयः। अत्र तु वक्रत्वार्जवभेदाद्  
ग्राहकाकारभेदे ग्राह्याकारभेदात्। --- तत्रापि तद्याथार्थ्यात्।  
(नयद्युमणिः, पृ. 159)

8. जलपोतयात्रायां जलयानगत्या सह वृक्षादीनां गतेर्ज्ञानमपि यथार्थमेव।  
गतेस्तीव्रतया संयोगविभागयोः प्रतीतौ जलयानस्थावरगता दूरता समानैव।  
स्थावराणां दूरता गृह्यते जलयानस्य च न गृह्यत इति का नामाऽयथार्थता।  
एवमेव मेघगमने चन्द्रादिगमनस्य प्रतीतिरपि व्याख्येया। एवं बहु  
वक्तव्यं विहाय मेघनादसूरिणा प्रस्तुता कारिकेह समुद्ध्रियते ---

यथार्थख्यातितत्त्वं यो गाहमानमतिर्भवेत्।

आकल्पं ख्यायते तस्य ख्यातिर्यावज्जगत्त्रयम्।।

(तत्रैव, पृ. 165)

नयद्युमणिग्रन्थे मेघनादसूरिणा विशेषतः सर्वेषामन्येषां ख्यातिवादानां  
प्रत्याख्यानं विधाय स्वमतस्थापनं कृतम्। विस्तराभ्या नैह प्रतन्यते।  
अन्ते चोक्तम् ---

श्रीमद्रामानुजार्यस्य ख्यातिरिष्टा प्रदर्शिता ।

तद्विरुद्ध-मत-ख्यातिरपास्ता वास्तवोक्तिभिः।।

(तत्रैव, पृ. 165)

+ + + + +

वैभाषिकबौद्धानां बाह्यार्थप्रत्यक्षवादः

बौद्धानां क्षणभङ्गवादे सविकल्पकं विज्ञानं तावत् कथं  
स्यात्? अत एव सौत्रान्तिका बाह्यार्थमनुमेयं मन्वते वैभाषिकाश्च  
तत्प्रत्यक्षतां स्थापयन्ति। पालिग्रन्थेष्वपि विवादोऽयं दृश्यते। तथा  
हि---

क. इदानीं चक्खुना रूपं पस्सती ति कथा होति। तत्थ  
चक्खुना रूपं दिस्वा ति वचनं निस्साय पसादचक्खुमेव

रूपं पस्सती ति येसं लद्धि, सेय्यथा पि महासंधिकानं।  
 ---- यथा हि उसुना विज्झन्तो पि धनुना विज्झती ति  
 वुच्चति, एवं चक्खुविआणेन पस्सन्तो पि चक्खुना  
 पस्सती ति वुत्तो। (कथावत्थु अट्ठकथा, 18/9)

ख. चक्खुना रूपं दिस्वा ति कारणवसेन चक्खू ति लद्धवोहारेण  
 रूपदस्सनमत्तेन चक्खुविआणेन रूपं दिस्वा। पोराना  
 पनाहु --- “चक्खु रूपं न पस्सति, अचित्तकत्ता। चित्तं  
 न पस्सति, अचक्खुकत्ता। द्वारारम्मणसंघट्टे पन  
 चक्खुप्पसादवत्थुकेन चित्तेन पस्सति”। ईदिसी पनेसा  
 धनुना विज्झतीति आदिसु विय सम्भारकथा नाम होति।  
 तस्मा चक्खुविआणेन रूपं दिस्वा ति अयमेवेत्थ अत्थो  
 ति। (विसुद्धिमग्गो, 1/53)

अयमाशयः। यथा बाणेन विध्यन्तमपि धनुषा विध्यतीति व्यवहरन्ति,  
 तथैव विज्ञानेन पश्यन्तमपि चक्षुषा पश्यतीति निगदन्ति। चक्षुषो  
 रूपस्य च क्षणभङ्गुरत्वेन निरुद्धयोः सतोरेव चक्षुर्विज्ञानं जायत इति  
 प्रतीत्यसमुत्पादस्य व्यवस्थानम्। चक्षुरादि शरीरस्यैव भागः। न तद्  
 विजानाति। अत एव वैभाषिका ब्रुवते---

चक्षुः पश्यति, विज्ञानं विजानाति स्वगोचरम्।

आलोचनोपलब्धत्वाद् विशेषः सुमहांस्तयोः॥

(अभिधर्मदीपः, 1/44)

तथा चैवं फलति---

| इन्द्रियाणि विषयाः | कार्याणि    | विज्ञानानि    | कार्याणि         | फलानि                            |
|--------------------|-------------|---------------|------------------|----------------------------------|
| चक्षुः             | रूपम्       | रूपालोचनम्    | चक्षुर्विज्ञानम् | रूपोपलब्धिः रूपप्रत्यक्षम्       |
| श्रोत्रम्          | शब्दः       | शब्दालोचनम्   | श्रोत्रविज्ञानम् | शब्दोपलब्धिः शब्दप्रत्यक्षम्     |
| घ्राणम्            | गन्धः       | गन्धालोचनम्   | घ्राणविज्ञानम्   | गन्धोपलब्धिः गन्धप्रत्यक्षम्     |
| जिह्वा             | रसः         | रसालोचनम्     | जिह्वाविज्ञानम्  | रसोपलब्धिः रसप्रत्यक्षम्         |
| कायः               | स्पर्शव्यम् | स्पर्शालोचनम् | कायविज्ञानम्     | स्पर्शोपलब्धिः स्पर्शप्रत्यक्षम् |
| मनः                | धर्मः       | धर्मालोचनम्   | मनोविज्ञानम्     | धर्मोपलब्धिः धर्मप्रत्यक्षम्     |



अस्य ग्रन्थस्य विभाषाप्रभाटीकायामिन्द्रियविज्ञानयोरन्योन्य-  
वृत्तिर्निदिष्टा---

क. चक्षुर्द्रव्यं हि द्रष्टृस्वभावम्। तस्य हेतु-प्रत्ययसामग्रीपरिग्रह-  
प्रबोधित-शक्ते रूपदर्शनक्रियामात्रमुत्पद्यते।

द्रव्यक्रिययोश्चान्यत्वं सिद्ध-साध्यमानरूपत्वाद् निरपेक्षसापेक्ष-  
व्यपदेशित्वाच्च द्रष्टव्यम्।

तत्र चक्षुर्मूर्ति-क्रियावद्विज्ञानाधिष्ठितं दर्शनक्रियामारभते, न  
विज्ञानशून्यम्। यथैव चक्षुर्विज्ञानमालोचनाधिष्ठितक्रियं विजानाति, न  
केवलम्। परस्परानुग्रहबलाद्धि अनयोः प्रदीपादिप्रत्ययानन्तर- परिगृहीत-  
योर्युगपदेकस्मिन् विषये वृत्तिलाभो भवति।

सौत्रान्तिकास्तावत् सविकल्पकं ज्ञानं प्रत्यक्षं न स्वीकुर्वन्ति।  
ते ब्रुवते---

चक्षुः पश्यति रूपाणि सभागं, न तदाश्रितम्।

विज्ञानं, दृश्यते रूपं न किलान्तरितं यतः॥

(अभिधर्मकोशः, 1/42)

वैभाषिकाः खलु प्रत्याचक्षते---

कारणभूताभ्यां प्रागुत्पन्नाभ्यां चक्षुरूपाभ्यां कार्यभूतं विज्ञानं  
सहैकस्मिन् काले नावतिष्ठत इति। तस्य साक्षाद्  
विषयानुभवनाभावादनुमानापगमाभावप्रसङ्गः। अनुभवज्ञाने चासति  
मनोविज्ञानस्मृतिगोचराभावादनुत्पत्तिप्रसङ्गः, नियतविषय-  
स्मरणाभावाच्च। (अभिधर्मदीपः, विभाषाप्रभा, 1/44)

तस्माद् विज्ञानं नियतात्रयालम्बन-लब्धप्रतिष्ठं सहकारिकारण-  
सामग्रीसन्निधानोपजनितक्रियं साक्षाद् विषयमुपलभते। चक्षु-  
रप्यालोचयति प्रदीपस्तत्कालमेवावभासयति। (तत्रैव, 1/44)

वैभाषिकाणां मतेन त्रयाणामप्यायतनानाम् (इन्द्रियविषयविज्ञानानाम्)  
एकस्मिन्नध्वनि (अतीतेऽनागते वर्तमाने वा) सहैव प्रवृत्तिर्भवति---



एते विज्ञान-चक्षुरूपादयः स्वहेतुसामग्रीप्रबोधितशक्तयो विषय-  
प्रतिविज्ञप्त्यालोचनावभासनाख्यां युगपत् सौधीं सौधीं वृत्तिं  
प्रतिपद्यन्त इति युक्तिमती नीतिः। (तत्रैव)

सामग्र्यां सत्यां दर्शने प्रवर्तमाने प्राधान्याच्चक्षुः पश्यतीत्युच्यते।  
कथं प्राधान्यमिति चेत्? तत्प्रकर्षे दर्शनप्रकर्षात्। तुल्ये हि  
प्रथमध्यानचक्षुर्विज्ञाने द्वितीयादिषु चक्षुः-प्रकर्षाद् दर्शनप्रकर्षो  
दृश्यत इति। (तत्रैव)

अयमत्र प्रमाणग्रन्थः ---

चक्षुः पश्यति ---- मनसि तु भक्त्या प्रज्ञावृत्तिरुपचर्यते  
मनसा पश्यति। (तत्रैव)

एवं चेद् बौद्धानां प्रेष्ठस्य क्षणभङ्गवादस्य केव गतिः?  
सौत्रान्तिकाः क्षणभङ्गवादं यथावद् गृहीत्वा समुत्पन्नस्य धर्मस्य  
द्वितीये क्षणे नाशमभ्युपेत्य बाह्यार्थानुमेयवादं स्थापयन्ति। वैभाषिकास्तु  
पञ्चदशभिः षोडशभिर्वा क्षणैः क्षणमेकं मत्वा बाह्यार्थप्रत्यक्षवादं  
स्थापयन्ति, अयं च क्षणश्चित्तक्षण इति निगद्यते। तथा च पालिग्रन्थे  
गीयते---

सव्वे संखतधम्मा अनिच्चा, तस्मा एकचित्तक्खणिका एव।  
(कथावत्थु, अट्ठकथा 22/8)

अपि चान्यत्रोक्तम्---

उप्पादट्ठिति-भङ्गवसेन खणत्तयं एकचित्तक्खणं नाम।  
तानि पन सत्तरस चित्तक्खणानि रूपधम्मानमायु।  
(अभिधम्मत्थसङ्गहो, 4/8)

सौत्रात्किनां मतं न क्षोदक्षमम्। निरुद्धे वस्तुनि बुद्धिरेव कथं जायेत?  
तथा चोक्तम् ---

नासदालम्बना बुद्धिरागमादुपपत्तितः।

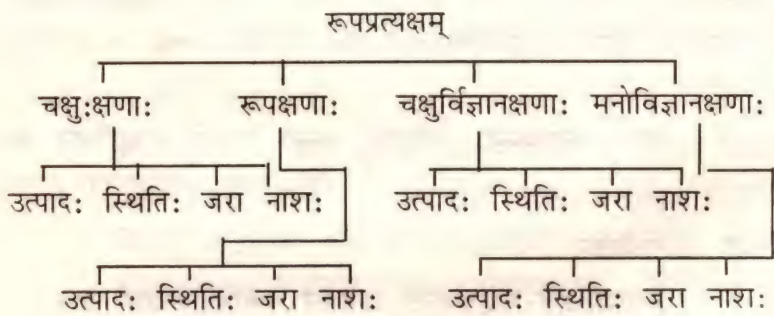
(अभिधर्मदीपः, 5/306)

आगमस्तावत् चक्षुः प्रतीत्य रूपं चोत्पद्यते चक्षुर्विज्ञानम्.  
यावन्मनः प्रतीत्य धर्माश्चोत्पद्यते मनोविज्ञानम्, एतावच्चैतत्  
सर्वमस्ति इति। (विभाषाप्रभा)

पञ्चानामायतनानां पञ्चदश षोडश वा चित्तक्षणा भवन्ति। तथा  
हि---

एते षोडश चित्तक्षणा दर्शनमार्गः। चित्तक्षणः पुनर्ज्ञेय-ज्ञानोत्पत्ति  
परिसमाप्तितो द्रष्टव्यः। केचित् "अदृष्टदृष्टेर्दृष्ट्वागस्तत्र पञ्चदश  
क्षणाः।" इति वर्णयन्ति तदयुक्तम्। (अभिसमयालङ्कारालोक,  
पृ. 150) पञ्चदशेन क्षणेन यत् ---- दृष्टं तदेव षोडशेनापीति  
नास्त्यपूर्व-दृष्टसत्यदर्शनमिति न षोडशक्षणो दर्शनमार्ग इति  
व्यवस्थाप्यते। (स्फुटार्था, 4/28)

अथ रूपप्रत्यक्षस्य विवेचनं क्रियते ---



महायानप्रस्थाने चित्तक्षणा न पारमार्थिकः, किन्तु व्यावहारिक  
एवेति स्थाप्यते। तथापीह सार्थकत्वेन समुद्ध्रियते ---

कथमेकस्य चित्तस्य व्यवस्थानं भवति? व्यावहारिकेण चित्तक्षणेन नो तु प्रवृत्तिक्षणेन। व्यावहारिकमेकचित्तं कतमत्? एकेन पदनिश्रयेणैकस्मिन् वस्तुनि यावता कालेन विज्ञप्तिरुत्पद्यते तावदेकचित्तम्। यच्चापि तत्समानप्रवाहं तदप्येकमेवाच्यते। विसदृशं तु तस्माद् द्वितीयमिति। (योगाचारभूमिः, पृ. 59)

इत्येवं वैभाषिका एकस्मिंश्चित्तक्षणे पारमार्थिकत्वेनाभिमते बाह्यार्थस्य प्रत्यक्षं स्वीकृत्य यथार्थख्यातिमेवानुरुन्धते।

ननु व्यावहारिकक्षणः पारमार्थिक आस्तां नाम, प्रातिभासिकस्य बाह्यार्थप्रत्यक्षं कथं स्वीक्रियेत? उच्यते। प्रातिभासिकस्य वस्तुनः स्मृतस्य कुत्रापि प्रत्यक्षायमाणे वस्तुनि दोषवशाद् यज्ज्ञानं तदपि प्रत्यक्षमेव। न हि चित्तक्षणे प्रातिभासिकं वार्यते तत्रापि शुक्त्या-देशचाकचक्यादि प्रतीत्य स्मृतरजतादेः समुत्पादस्वीकारादिति संक्षेपः।

+ + + + +

काश्मीरशैवानां यथार्थख्यातिवादः

एष विषयः सङ्कुचितख्यातिवादं द्रष्टव्यः।

+ + + + +



## विपरीतख्यातिवादाः

अन्यथाख्यातिवादशीर्षके प्रायेण यद् विवेचितं तदिह स्पष्टतां नेष्यते। वैशेषिकमतं च विशेषेण प्रतिपिपादयिषितम्। तत्र तावद् भाट्टानां मतमिह पुरस्कृत्यते ---

### भाट्टमीमांसकानां विपरीतख्यातिवादः

यत्रान्यस्मिन् वस्तुनि वस्त्वन्तरं स्मर्यमाणं प्रत्यक्षमिव प्रतीयते तत्र तत्तायाः प्रमोषेण प्रत्यक्षवस्तुन इदंतायां स्मृतवस्तुनो रूपं निक्षिप्यते। के इमे तत्तेदंते? उच्यते ---

सन्निहितदेश-वर्तमानकालता हीदंता। (प्रपं, पृ. 204)

सन्निहितदेशस्थं वर्तमानकालिकं च वस्तु प्रत्यक्षं सदितमित्युच्यते। प्रत्यभिज्ञायां तु सेयमिदन्ता तत्तया सहैव समुपतिष्ठते। तत्ता चेह विविच्यते ---

अनुभवे य एव धर्मः कालो वा वर्तमानत्वेन भासते स एव स्मृतावपि। स तयोरेकविषयत्वेऽपि स्मृतावेव तच्छब्दोल्लेखः, संस्कारजज्ञानस्यैव तच्छब्दप्रयोगहेतुत्वात्, प्रत्यभिज्ञाने तथा कल्पनात्। तदैव च प्रत्यक्षानुभवेनेदं-शब्दप्रयोगः। विषयकृतश्च स्मृत्यनुभवयोर्विशेषो नास्त्येव। अत एवायं घट इति स्मृतेश्च स घट इति नानुभवः। सहप्रयोगस्तु धर्मविशेषमादायेति।

(न्याकु, प्रकाशटीका, पृ. 458)

इयञ्च स्मृतिविषयतारूपा तत्ता भ्रमस्थले प्रमोषं लभते, अत एव विपरीतख्यातिर्जायते। शुक्तौ रजतप्रतीतिर्न स्मृतिप्रमोषेण किन्तु तत्ताप्रमोषेण भवति। तत्तया मनसि लब्धसत्ताकं वस्तु तत्ताप्रमोषेण

इदन्तायां वर्तमानवद् भासते। इदन्ता शुक्तिगता विद्यत एव, सा च शुक्तिरिदन्तया पुरोवर्तमाना दृश्यते, तत्ताप्रमोषेण च विपर्ययेण रजताकारतां धारयतीति। ज्ञानलक्षणया प्रत्यासत्या हि अलौकिक-ख्यातिरभ्युपेता। तथा हि प्रभाचन्द्रसूरिः ---

यस्मादुक्तप्रकारेण ख्यात्यन्तराणि विचार्यमाणानि नोपपद्यन्ते  
तस्मादलौकिकस्यान्तर्बहिर्वा अनिरूपितस्वरूपस्यार्थस्य  
ख्यातिरभ्युपगन्तव्या (न्याकुच, पृ. 64)

(शेषमन्यथाख्यातिवादे द्रष्टव्यम्)

वैशेषिकाणां विपरीतख्यातिवादः

वैशेषिकाणां मतनाप्यप्रमा चाविद्या चानर्थान्तरम्। विपर्यय एव तदर्थः, तत्ख्यातिश्च विपरीतख्यातिरिति निगद्यते। तथा च वैशेषिकसूत्रम्---

इन्द्रियदोषात् संस्कार-दोषाच्चाविद्या। तद् दुष्टज्ञानम्।

(वैसू. 1/2/10-11)

क इमे दोषाः? इन्द्रियदोषाः संस्कारदोषाश्चेति ताभ्यामेव दुष्टज्ञानरूपाया अविद्याया उत्पत्तिरिति शङ्करमिश्रः सूत्रोपस्कारे प्राह---

इन्द्रियदोषो वात-पित्ताद्याभिभवकृतमपाटवम्। संस्कारदोषो  
विशेषादर्शनसाहित्यम्। तदधीनं हि मिथ्याज्ञानं जायते। -----

व्यभिचारिज्ञानमतस्मिंस्तदिति ज्ञानं व्यधिकरणप्रकारावच्छिन्नं  
विशेष्यावृत्तिप्रकारकम्। (तत्रैव, उपस्कारः)

शङ्करमिश्रेण विशेष्यावृत्तिप्रकारकमिति प्रकारशब्देन स्वाभिमतामयथार्थख्यातिं वान्यथाख्यातिं वा प्रस्तावयाम्बभूवे। प्रकारशब्देन हि अन्यप्रकारेणेति कृत्वाऽन्यथापदार्थ एव फलति। प्रशस्तपादा न्यायकन्दलीकाराश्चैनां विपरीतख्यातिं ब्रुवते। तेनैव नाम्ना कन्दलीकारो व्याचख्यै (प्रशस्तपादभाष्यम्,



पृ. 426)। तामेव मिथ्याख्यातिमपि निगदन्ति। सूत्रकारानुसारेण तद् दुष्टज्ञानम्। अथात्र न्यायकन्दलीकारः ---

असन्निहितो विषयोऽश्वदिस्ततः पूर्वोत्पन्नाज्ञानाज्जातो यः  
संस्कारस्तमपेक्षमाणादात्ममनसोः संयोगाद् विपर्ययः।

(न्यायकन्दली, पृ. 425)

अयमाशयः। गोत्वप्रकारकं गोपिण्डं दृष्ट्वापि तमश्वत्वप्रकारकं पश्यन् सादृश्यवशात् प्रबुद्धसंस्कारेणाश्वं स्मृत्वा मनोदोषवशादिन्द्रियसंयुक्ते पिण्डेऽश्वप्रतीतिं करोतीति सा ख्यातिर्विपर्ययरूपा विपरीतख्यातिरेव। सर्वत्र सर्वस्य विपरीतख्यातिर्न जायते, सादृश्यसंस्कारै हि ख्यातिं नियमयतः। नेत्रव्यापारेण संयोगसन्निकर्षेण च गोपिण्डमश्वं गृह्णाति चेत् सेयमिन्द्रियजन्यैव विपरीतख्यातिः। अन्यान् ख्यातिवादान् प्रत्याख्याय विपरीतख्यातिं स्थापयन्नाह कन्दलीकारः ---

अन्यस्यान्यारोपेण प्रतिभानाद् योपि निरधिष्ठाने विपर्यय-  
स्तत्राप्यवर्तमानोर्थः स्वरूपविपरीतेन वर्तमानाकारेण प्रतीयत  
इति विपरीतख्यातिरेव न त्वसत्ख्यातिः स्वरूपतोऽर्थस्य  
सम्भवादसतो वावभासनायोगात्। (तत्रैव, पृ. 426)

अत्रेदमवधेयम्,

क. यत्र सदृशमर्थमधिष्ठाय विपर्ययः प्रवर्तते तत्र सादृश्यं  
कारणम्। (तत्रैव)

ख. निरधिष्ठाने तु विश्रमे मनोदोषमात्रानुबन्धिनि नास्य सम्भवः।  
यथा हि कामातुरस्येतस्ततो भाविनि स्त्रीनिर्भासे विज्ञाने।  
(तत्रैव)

ग. संस्कारोपि तत्रैव कारणं यत्र सविकल्पो भ्रमः। निर्विकल्पके  
त्विन्द्रियदोषस्यैव सामर्थ्यं तद्भावभावितत्वात्। यथा शङ्खे  
पीतज्ञानोत्पत्तौ। (तत्रैव, पृ. 427)

कन्दलीकारेण सविस्तरं प्रतिपक्षं प्रत्याख्याय वैशेषिकमतं पुरश्चक्रे।  
यथार्थख्यातिवादिनः प्राभाकरास्तावद् ब्रुवते ---



यस्यां हि संविदि योऽर्थोवभासते स तस्या आलम्बनम्।

(तत्रैव, पृ. 430)

तन्न। यदि नात्र रजतज्ञानं शुक्तिविषयकं किन्तु रजतस्मरणं, तर्हि रजतार्थिनः पूर्वानुभूते रजत एव प्रवृत्तिर्भवेत्, किन्तु शुक्तावेव प्रवृत्तिर्जायते।

तत्ताप्रमोषे शुक्तौ रजतज्ञानमुद्धोषयन्तो मीमांसकाः वृथैव तर्कयन्ति तथा चेन्मन्येत तर्हि प्रवृत्तेरनन्तरं रजतज्ञानबोधप्रत्ययोपि नोदियात्।

इत्येवं सन्ति विपरीतख्यातिवादविरोधिनो बहवः किन्तु विपरीतख्यातिरेवेह सिद्धान्तः।

+ + + + +

पातञ्जलानां विपरीतख्यातिवादः (अन्यथाख्यातिवादः)

तत्त्वमीमांसायां कापिलानुसरन्तोऽपि पातञ्जला ईश्वरं षड्विंशं तत्त्वमङ्गीकुर्वन्ति। तथैव सांख्यसम्मतं सदसत्ख्यातिं परिहाय तेऽन्यथाख्यातिं विपरीतख्यातिं वाभ्युपयन्ति। तदिह संक्षेपेण विविच्यते। व्यावहारिकी ख्यातिर्विपरीतख्यातिरेव, अविद्यया प्रसूतत्वात्। तथा हि ---

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।

(योसू 2/5)

भाष्यकारा अवोचन् ---

अविद्या न प्रमाणं न प्रमाणाभावः किन्तु विद्याविपरीतं ज्ञानान्तरमविद्येति।

अत्र विपरीतशब्दस्य सूत्रे च ख्यातिशब्दस्य प्रयोगेण विपरीतख्यातिरेव फलति। वाचस्पतिमिश्रा अपि ---

न प्रसज्यप्रतिषेधो नापि विद्यैवाविद्या न तदभावविशिष्टा  
बुद्धिः, अपि तु विद्याविरुद्धं विपर्ययज्ञानमविद्येति।

(तत्त्ववैशारदी)

अपि च विज्ञानभिक्षुः ---

विपरीतख्यातिरिति ---- अस्मिंश्च दर्शने सांख्यानामिवाविवेको  
नाविद्याशब्दार्थः किन्तु वैशेषिकादिवद् विशिष्टज्ञानमेवेति।

(योगवार्तिकम्)

विपरीतख्यातिर्विपर्यय इति नार्थान्तरम्। उक्ता विपरीतख्यातिर्व्यवहारं  
प्रसूते। व्यवहारे च प्रतिभासप्रसविनी चेयं ख्यातिर्विपर्ययनाम्ना व्यवह्रियत  
एव। तथा च सूत्रम् ---

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्।

(योसू 1/8)

अत्र भाष्यम् ---

स कस्मान्न प्रमाणम्? यतः प्रमाणेन बाध्यते। भूतार्थविषयत्वात्  
प्रमाणस्य। तत्र प्रमाणेन बाधनमप्रमाणस्य दृष्टम्। तद् यथा  
द्विचन्द्रदर्शनं सद्विषयेणैकचन्द्रदर्शनेन बाध्यत इति।

अथ वाचस्पतिमिश्रास्तत्त्ववैशारद्याम् ---

नन्वेवं विकल्पोऽपि तद्रूपाप्रतिष्ठानाद् विचारतो विपर्ययः प्रसज्येतेत्यत  
आह (सूत्रे) मिथ्याज्ञानमिति। अनेन हि सर्वजनीनानुभवसिद्धो  
बोध उक्तः। स चास्मिन् विपर्यये, न तु विकल्पे, तेन  
व्यवहारात्। पण्डितरूपाणामेव तु विचारयतां तत्र (विकल्पे)  
बाधबुद्धेरिति।

विकल्पख्यातिस्तु ज्ञानिनामपि भवत्या संसारात्। विपर्ययो नाम भ्रमः।  
स तु विज्ञानभिक्षुणा योगवार्तिकेऽन्यथाख्यातिरिति जगदे ---

अत्र च शास्त्रेऽन्यथाख्यातिः सिद्धान्तो न तु सांख्यवदविवेकमात्रम्,  
अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्येति  
आगामिसूत्रात्। वैशेषिकाच्चात्रायं विशेषो यद् बाह्यरजतादेर्नारोपः  
किन्त्वान्तरस्यैवेति। ज्ञानाकारमनुभवसिद्धं शुक्त्यादिकं सन्निकृष्टं



विहाय दूरस्थरजतादिविषयकत्वकल्पने गौरवात्, स्वप्ने दृष्टमिदानीं नास्तीति स्वरूपतो बाधानुपपत्तेश्च।

बुद्धिसत् एव रजतस्य शुक्तावारोप इति पातञ्जलानामाशयः। वैशेषिकास्तु हट्टस्थरजतस्यारोपं स्थापयन्ति। प्रकारान्तरेण बुद्धिसत्ख्यातिमास्थायैवेह विपरीतख्यातिरन्यथाख्यातिर्वा स्थाप्यते। ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिरपि नेहोपयुज्यते, चित्तवृत्तेरेवाकारसमर्पणात्।

नेयं भाट्टानां विपरीतख्यातिर्यत्र तत्ताप्रमोष आस्थीयते, स्मर्यमाणस्य बाह्यरजतादेस्तत्तामनाश्रित्यैव ज्ञानाकारस्य तस्य स्वीकारात्। चित्तवृत्तिरेव हि विपर्ययः। वृत्तिश्च रजताकारा सती सन्निहितमपि शुक्तिशकलं न गृह्णातीति संक्षेपः।

आहृतानां विपरीतख्यातिवादः

प्रभाचन्द्रसूरिः स्वाभिमतं विपरीतख्यातिं स्पष्टयन्नाह ---  
क एवमाह विपरीतोऽयमर्थो भ्रान्तिः ख्यातिः? किं तर्हि?  
पुरुषविपरीते स्थाणौ पुरुषोयमिति ख्यातिर्विपरीतख्यातिः।  
(प्रमेयकमलमार्तण्डः, पृ. 52)

अयमेवान्यत्र प्राह ---

तदेवं शुक्तिकायां रजतज्ञाने परोपवर्णितख्यात्यन्तराणां विचार्यमाणा-  
नामनुपपत्तेर्विपरीतख्यातिरेवात्र प्रतिपत्तव्या।

(न्यायकुमुदचन्द्रः, पृ. 64)

तत्रैव ज्ञानलक्षणां प्रत्यासत्तिमस्वीकुर्वन्नपि प्रकारान्तरेणा- लौकिकख्यातेः स्वरूपं न्यरूपयत् ---

यस्मादुक्तप्रकारेण ख्यात्यन्तराणि विचार्यमाणानि नोपपद्यन्ते  
तस्मादलौकिकस्यान्तर्बहिर्वा अनिरूपितस्वरूपस्यार्थस्य  
ख्यातिरभ्युपगन्तव्या।  
(तत्रैव)

एवं च व्यावहारिकी ख्यातिरेव लौकिकख्यातिः या च व्यवहारमतिक्रामति  
सैवालौकिकख्यातिरित्यार्हताः।



## विवेकख्यातिः

सांख्ये पातञ्जले च दर्शने विवेकख्यातिरिति सत्त्वपुरुषान्यता-  
ख्यातिरिति वाऽन्याभ्यः सदसत्ख्यातिभ्यो विविच्य स्थाप्यते। सांख्यकारिकायां  
(2) तावदस्मिन्नर्थे 'विज्ञान' शब्दस्य प्रयोगः कृतः। प्रकृतिं पुरुषं च  
पृथग् विविच्य ज्ञानमिति तदर्थः। तथा हि तत्त्वकौमुद्यां वाचस्पतिमिश्रः---

विज्ञानं विवेकं न ज्ञानमिति।

त्रिषष्टितमकारिकायामसौ स्पष्टं, ब्रूते---

एकरूपेण तत्त्वज्ञाने विवेकख्यात्या विमोक्षयति।

अग्रे च 'सत्त्वपुरुषान्यता-साक्षात्कारि ज्ञानम्' इति प्रोक्तम्, इदं  
बुद्धेः सात्त्विकः परिणामः। तं च विविक्तं व्याचख्यौ ---

क. करोतु नाम पौनःपुन्येन शब्दाद्युपभोगं प्रकृतिर्यथा विवेकख्यातिर्न  
कृता, कृतविवेकख्यातिस्तु शब्दाद्युपभोगं न जनयति।  
(तकौ 66)

ख. अविवेकख्यातिनिबन्धनो हि तदुपभोगो निबन्धनाभावे न  
भवितुमर्हति, अङ्कुर इव बीजाभावे। (तत्रैव)

ग. प्राकृतान् हि सुखदुःखमोहात्मनः शब्दादीस्तदविवेकान्ममै-  
तदित्यभिमन्यमान आत्मा भुञ्जीत। एवं विवेकख्यातिमपि  
प्राकृतीमविवेकादेवात्मा मदर्थेयमिति मन्यते। (तत्रैव)

घ. उत्पन्नविवेकख्यातिस्तु तदसंसर्गाच्छब्दादीन् नोपभोक्तुमर्हति,  
नापि विवेकख्यातिं प्राकृतीमपि कर्तुम्। (तत्रैव)

ङ. ततो विविक्त आत्मा न स्वार्थमभिमन्तुमर्हति। पुरुषार्थो  
च भोगविवेकौ प्रकृत्यारम्भप्रयोजकौ, इत्यपुरुषार्थौ सन्तौ  
न प्रकृतिं प्रयोजयतः। (तत्रैव)

इदमत्र तात्पर्यम्। विवेकख्यातिसमनन्तरमेव कैवल्यात्मा पुरुषार्थो नोपलभ्यते, किं तर्हि, प्रकृतेर्विविक्त आत्मा यदा विवेकख्यातिमपि प्राकृतीमतिक्रम्य स्वरूपेऽवतिष्ठते तदैव प्रकृतिस्तं पुरुषं जहाति। तथा चासौ चेतनरूपतां विहाय चित्स्वरूपे स्वलक्षणे तिष्ठतीत्येतदेव कैवल्यम्। केवलत्वं हि प्रकृतपरिणामसापेक्षत्वाहित्यमिहाभिप्रेयते। इयमेव सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिः। तथा हि, सत्त्वं चेदं विवेकख्यातिरूपः प्राकृतः सात्त्विकः परिणामस्तर्हि ततः पार्थक्येन पुरुषस्य केवलरूपतया प्रतिपत्तिरेवान्यताख्यातिः। ख्यातिरपि प्राकृतीति तस्या अपि विविक्तस्य पुरुषस्य स्वरूपेऽवस्थितिः कैवल्यम्। अत्र सांख्यसूत्राणि ---

1. तत्त्वाभ्यासान्नेति नेतीति त्यागाद् विवेकसिद्धिः। (3/75)

आत्मेतरस्य पृथक्कारेण विवेकख्यातिर्जायत इत्यर्थः।

2. अधिकारिप्रभेदान्न नियमः। (3/76)

अत्रैव जन्मनि तत्त्वाभ्यासाद् विवेकख्यातिः सिध्यत्येवेति न नियमः। प्रकृष्टाधिकारिणां त्वरितोपलब्धिः, मध्यानां विलम्बेन, मन्दानां च ततस्तरामिति भावः।

3. बाधितानुवृत्त्या मध्यविवेकतोऽप्युपभोगः। जीवन्मुक्तश्च। (3/77-78)

तीव्रविवेकानामेव योगारूढत्वेन कैवल्यावाप्तिरिहैव जन्मनि निश्चिता, न तु मन्दविवेकानाम्। मध्यविवेकादपि बाधितविषयाणां पुनरुत्थानाद् भोगापत्तिः सम्भवतीति जीवन्मुक्तिमात्रं लभ्यं नात्यन्तिकं कैवल्यमिति। उत्तमाधिकारिणोऽधिकृत्य पुनः सूत्रयाम्बभूवे ---

4. विवेकान्निःशेषदुःखनिवृत्तौ कृतकृत्यता नेतरात्। (3/84)

यदा निःशेषतो ..... दुःखं निवर्तते तदैव पुरुषः कृतकृत्यो भवति, नेतराज्जीवन्मुक्त्यादेः। (भाष्यम्)



पातञ्जलयोगदर्शनादेव सांख्यानां विवेकख्यातिप्रसरः। तत्र खलु हेयं हेयहेतुर्हानं हानोपायश्चेति चतुर्व्यूहं प्रकृत्य प्रोक्तम् ---

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः। (योसू 2/26)

नास्ति विप्लवो व्याघातो बाध्यबाधकभावलक्षणो यस्यां सा (उत्तमाधिकारिणामेव) विवेकख्यातिर्हानोपायः, दुःखनिवृत्तेः परमं साधनम्। भाष्ये भगवान् व्यासः परिभाषयाम्बभूव ---

सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययो विवेकख्यातिः।

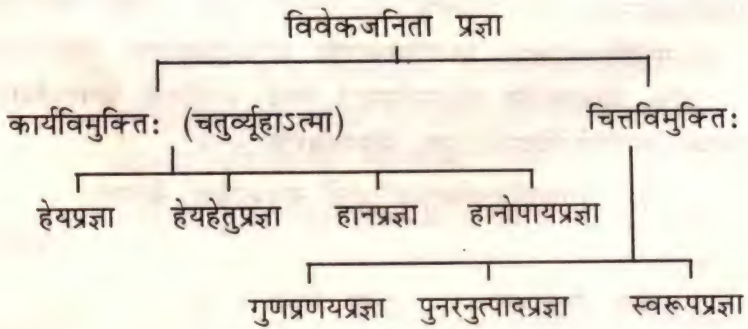
प्रकृतिर्बुद्धिर्वेहं सत्त्वम्, पुरुषश्चेति तयोरन्यतायाः पृथक्तायाः प्रतीतिः ख्यातिरिति विवेकख्यातिः। अग्रे 'अविप्लवा' पदस्य व्याख्या चक्रे---

सा त्वनिवृत्तमिथ्याज्ञाना प्लवते। यदा मिथ्याज्ञानं दग्धबीजभावं बन्ध्यप्रसवं सम्पद्यते तदा विधूतक्लेशरजसः सत्त्वस्य परं वैशाखे परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्तमानस्य विवेकप्रत्ययप्रवाहो निर्मलो भवति। सा विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः।

अयमेव मोक्षस्य मार्गो दुःखहानस्य चोपायः। अपि च सूत्रम्---

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा। (2/27)

चतुर्धा कार्यविमुक्तिस्त्रिधा च चित्तविमुक्तिरिति कृत्वा सप्तधा प्रान्तभूमिः सिद्धिकोटिर्भवति ---





भाष्यकारः सप्त भूमीर्निदर्शयामास ---

1. परिज्ञातं हेयं नास्य पुनः परिज्ञेयमास्ति।
2. क्षीणा हेयहेतवो न पुनस्तेषां क्षेतव्यमस्ति।
3. साक्षात्कृतं निरोधसमाधिना हानम्।
4. भावितो विवेकख्यातिरूपो हानोपायः।
5. चरिताधिकारा बुद्धिगुणा गिरिशिखरच्युता इव ग्रावाणो निरवस्थानाः स्वकारणे प्रलयाभिमुखाः सह तेनास्तं गच्छन्ति।
6. न चैषां प्रतिप्रलीनानां पुनरस्त्युत्पादः, प्रयोजनाभावात्।
7. एतस्यामवस्थायां गुणसम्बन्धातीतः स्वरूपमात्रज्योतिः पुरुषः केवली शुद्धः।

विवेकख्यातिरेव हेयस्य त्रिविधदुःखस्य हानोपाय इति व्याख्यातम्।  
अथाष्टाङ्गयोगस्योपादेयतां दर्शयन् भगवान् पतञ्जलिः सूत्रयांचकार---

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा विवेकख्यातेः।

(2/28)

अत्र पञ्च सोपानानि भवन्ति -

- क. पञ्चपर्वा खल्वविद्यैवाशुद्धिर्यस्याः क्षयो भवति।
- ख. अविद्यापञ्चकनाशेन सम्यग्ज्ञानरूपं तत्त्वज्ञानमुदेति।
- ग. यथा यथाष्टाङ्गसाधनानामनुष्ठानं तथा तथा अशुद्धेः क्षयः।
- घ. क्षयक्रमेण सम्यग्ज्ञानस्य दीप्तिरेधते।
- ङ. दीप्तिवृद्धेश्चरम उत्कर्षो विवेकख्यातिः।

अपि च भाष्ये स्पष्टीकृतम् ---

योगाङ्गानुष्ठानमशुद्धेर्वियोगकारणं यथा परशुरच्छेद्यस्य।  
विवेकख्यातेस्तु प्राप्तिकारणां यथा धर्मः सुखस्येति।

इत्थं च विवेकख्यातिः कैवल्यस्य साध्यभूतस्य साधनमात्रम्।  
साध्ये प्राप्ते साधनं त्यज्यत इत्याह भाष्यकृत् ---

चितिशक्तिपरिणामिनी अप्रतिसङ्क्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता  
च। सत्त्वगुणात्मिका चेयमतो विपरीता विवेकख्यातिरित्यतस्तस्यां  
विरक्तं चित्तं तामपि ख्यातिं निरुणद्धि। ---- स निर्बीजः  
समाधिः। (योगभाष्यम् 1/2)

इदमत्राकूतम्। सर्वनिरोधे विवेकख्यातिरुपलभ्यते। स च सात्त्विको  
बुद्धिपरिणामः। अस्यामवस्थायां त्रिगुणातीतो न भवति। अतो विवेकख्यातेरपि  
निरोध आवश्यकः।

+ + + + +

## विवेकाख्यातिवादः (अख्यातिवादः)

ख्यातिवादानां मध्ये प्राभाकराणां यथार्थख्यातिरेव विवेक-  
ख्यातिनाम्नापि व्यहियते। इयमेवाख्यातिरिति, भेदाख्यातिरिति असंसर्गाग्रह  
इति, विवेकाग्रह इति च शब्दैः प्रोच्यते। यदा द्वयोर्ज्ञानयोः संकरो  
जायमानो तद्भेदप्रतीतिं निरुणद्धि तदेयं विवेकाख्यातिः। यथा शुक्तौ  
'इदं रजतम्' इति प्रतीताविदमंशे प्रत्यक्षं रजतांशे च स्मृतिः किन्तु  
द्वयोर्विवेकस्य प्रतीतिः ख्यातिर्वा न भवति। कौमारिलाः खलु ज्ञानद्वयं  
स्वीकृत्यापि विपरीतख्यातिरिति अन्यथाख्यातिरिति वा स्थापयन्ति।  
गुरवः पुनर्ज्ञाने संशयस्यास्वीकारेण भाट्टप्रस्थानं प्रत्याख्याय  
स्वमतमागृह्णन्ति। तथा च प्रकरणपञ्चिकायां शालिकनाथमिश्रः---

1. तथापि भिन्ने नाभातो भेदाग्रहसमत्वतः । (3/34)

भेदाग्रहेण भिन्ने ज्ञाने भेदेन नाभासेते इत्यर्थः।

2. ग्रहणस्मरणे चेमे विवेकानवभासिनी। (3/33)

ग्रहणं प्रत्यक्षं पुरो वर्तमानस्य स्मरणं च रजतादेः। इमे ज्ञाने  
विवेकेन विविक्तरूपेण नावभासेते। अपि च---

3. भेदानध्यवसायादियमपि तादृक् परिस्फुरति। (3/41)

ज्ञानयोरनयोर्भेदे सत्यपि तन्निश्चयाभावात् स्मृतिरपि प्रत्यक्षवत् प्रतीयते।  
किं च ---

4. सा गृहीतांशमोषेण गृहीतिरिव तिष्ठति। (3/45)

सा स्मृतिः प्रत्यक्षतां गाहमानेव तिष्ठति। कुतः? पुरा हट्टादौ  
प्रत्यक्षीकृतस्य रजतस्य स्मरणांशस्य प्रमोषात्। अत एव बृहत्यां  
प्रभाकरपादा अप्याहुः---

विज्ञानद्वयं चैतदिदमिति प्रत्यक्षं रजतमिति स्मरणम्।

(बृहती 1/1/1)



अपि च तत्रैव ----

शुक्तिकायां रजतज्ञानं स्मरामीति प्रमोषात्। तदेतत् सङ्कलय्य पूर्वपक्षत्वेन प्रभाकराभिमतं स्थापयन्नाह जयन्तभट्टः ----

सोयं स्मृतिप्रमोषस्तत्त्वाग्रहणमख्यातिरुच्यते। ते एते ग्रहणस्मरणे विविक्ते अपि विविक्ततया न गृह्येते इति विवेकाग्रहणमख्यातिः।

(न्यायमञ्जरी, भागः 1, पृ. 179)

इदमत्रावधेयम् ----

1. भाट्टानामन्यथाख्यातिवादेऽपि स्मृतिप्रमोषः स्वीक्रियत एव। प्रकारान्तरेण मतस्थापनासम्भवात्।
2. व्यवहारसत्तायाः परिणामरूपतां स्वीकुर्वाणाः सर्वेऽप्याचार्या विवेकाख्यातिमनुरुन्धते।
3. अनिर्वचनीयख्यातिवादिनां मतेनाध्यासहेतोः शुक्तिरजतयोर्ज्ञाने विविक्ते न प्रतीयेते।
4. सांख्ययोगयोः किल प्रकृतिपुरुषयोरन्यताख्यातिरेव विवेकख्यातिः। विपर्ययेण विवेकाख्यातिरेव फलति।
5. प्रत्यभिज्ञादर्शने शिवरूपतायाः पृथग् जीवत्वप्रतीतिरिविवेक एव। विवेकेन हि शिवोहमिति प्रतीयेते। अत्रेयं ख्यातिः सङ्कुचितख्यातिरिति नाम्ना व्यवस्थाप्यते।
6. भ्रमस्य स्वरूपव्याख्याने सर्वेऽपि विवेकाख्यातिं नामग्रहणम-कृत्वापि समभ्युपयन्ति। विपरीतख्यातिवादेऽपि हि शुक्तिरजतयोरविवेको न नाङ्गीकार्यः स्यादिति।

+ + + + +

## वैयाकरणानां बुद्धिसत्ख्यातिवादः

बुद्धौ सद् बुद्धिसत्। बुद्धिसतः ख्यातिर्बुद्धिसत्ख्यातिः, तां वदति यः सिद्धान्तः सोऽयं बुद्धिसत्ख्यातिवादः। सर्वं घटपटादिकं वस्तुजातं पूर्वं बुद्धिसदेव पश्चाद् बहिः प्रतीयत इति। भ्रमोऽपि नाम बुद्धिसत्तां न जहाति। शुक्तौ रजतं तस्यैव प्रतीयते, रज्जौ वा सर्पः, यस्य बुद्धौ प्रागेव रजतस्य सर्पस्य च सत्ता भवति। यो नाम रजतसर्पौ न बुध्यते, तस्य तद्विषयको भ्रमोऽपि न जायत इति हि व्यावहारिकी स्थितिः। बुद्धौ सन्त एव पदार्थाः स्वप्ने भासन्त इति खलु श्रुतिसिद्धमेव। तथा हि ---

न तत्र रथा न रथयोगा भवन्ति। अथ रथान् रथयोगान् पथः  
सृजते। न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्ति। अथानन्दान् मुदः  
प्रमुदः सृजते। न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्ति।  
अथ वेशान्तान् पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते। स हि कर्ता।  
(बृहदारण्यक-3/4/3/10)

इदमत्राऽवधेयम्। शशशृङ्गादेरपि बुद्धिसतः ख्यातिर्जायते गगनकुसुमादीन्यपि तथा प्रतीयन्ते। बहिरसन्तोऽपि पदार्था बुद्धौ कृतावस्थानाः प्रतीतिमवगाहन्ते। घटमानयैत्यादावपि घटपदार्था बुद्धौ प्रतीत्यैव वक्ता वक्ति श्रोता च शब्दाद्यौ बुद्धिस्थीकृत्यैव प्रवर्तते। कुम्भकारो घटं, सुवर्णकारश्च कुण्डलं बुद्धौ व्यवस्थितमेव विषयीकृत्य तथा करोति यथा घटः कुण्डलं वा जन्म लभते।

ग्रामस्य प्राच्यां दिशि आम्राः सन्ति तत्रैव च जटावन्तो वटवृक्षा भवन्ति इत्यत्र बुद्धिविपरिणामस्य व्यवस्थां ददत् प्राह भगवान् पतञ्जलिः ---

स ततः पश्यति बुद्ध्यास्तिं चापकृष्यमाणं भवतिं चोपधीयमानं,  
नित्य एव स्वस्मिन् विषयेऽस्तिर्नित्यो भवतिश्च। बुद्धिस्त्वस्य



विपरिणम्यते।

(मभा-पासू 1/1/56)

अत्र महाभाष्यकृतमुपस्थापना महिमानं भजति। तद् यथाऽसौ प्राह---  
 कश्चित् कञ्चित् तन्तुवायमाह - "अस्य सूत्रस्य शाटकं  
 वय" इति। स पश्यति, यदि शाटको न वातव्यः, अथ  
 वातव्यो न शाटकः, शाटको वातव्यश्चेति विप्रतिषिद्धम्।  
 भाविनी खल्वस्य संज्ञाभिप्रेता, स मन्ये वातव्यो यस्मिन्नुतं  
 शाटक इत्येतद् भवतीति। (मभा-पासू 1/1/44)

कंसं जघान इत्यादावपि बुद्धिसन्नेव कंसादिः कारकत्वं लभते।  
 अन्यथाऽतीतस्य तस्य कारकत्वमपि विप्रतिषिद्धं स्यात्। तथा चाह  
 भगवान् भर्तृहरिः ---

शब्दोपहितरूपांश्च बुद्धेर्विषयतां गतान्।

प्रत्यक्षमिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते॥ (वाप, 3/7/5)

अपि च ---

यथा सलिलनिर्भासो मृगतृष्णासु जायते।

जलोपलब्ध्यनुगुणाद् बीजाद् बुद्धिर्जलेऽसति॥

(वाप, 3/13/8)

शब्दार्थप्रतीतिरपि बुद्धिसन्तमर्थमपेक्षते। तथा हि ---

यो वाऽर्थो बुद्धिविषयो बाह्यवस्तुनिबन्धनः ।

स बाह्यं वस्त्विति ज्ञातः शब्दार्थस्सम्यगिष्यते ॥

(वाप, 2/134)

न्यायसूत्रकारोऽपि अत्र संवदति ---

"बुद्धिसिद्धं तु तदसत् "

(न्यासू, 4/1/150)

असत्कार्यवादे उत्पत्तेः प्राक् कार्यं बुद्धिसिद्धं स्वीक्रियत.

इत्यहो माहात्म्यं बुद्धिसत्कार्यवादस्य। अयमेवार्थो योगवासिष्ठे गीयते---

"बहिर्न किञ्चिदप्यस्ति खाद्र्यब्ध्युर्वी-नगादिकम् ।

एतत् स्वचित्त एवास्ति पत्रपुञ्जमिवाङ्कुरे ॥

फलादि स्फारतामेति यथैव बहिरङ्कुरात् ।

बहिः प्रकटतां याति तथा पृथ्व्यादि चेतसः ॥



सत्यं पृथ्व्यादि चित्तस्थं न बहिष्ठं कदाचन ।

आबालमेतत् पुरुषैः सर्वैरेवानुभूयते।

स्वप्न-भ्रम-मदावेग-राग-रोगादि-दृष्टिषु ॥

(योवा, 5/48/49-53)

अमुमेवार्थमनुवदति विष्णुपुराणम् ---

ज्ञानस्वरूपमत्यन्तनिर्मलं परमात्मनः ।

तदेवार्थस्वरूपेण भ्रान्तिदर्शनतः स्थितम्॥

(विपु, 1/2/6)

ज्ञानमेव परं ब्रह्म ज्ञानं बन्धाय चेष्ट्यते।

ज्ञानात्मकमिदं विश्वं न ज्ञानाद् विद्यते परम् ।

विद्याविद्ये च मैत्रेय ज्ञानमेवोपधारय ॥

(विपु, 2/6/50-51)

तथा च भागवते ---

ऋतेर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि ।

तद् विद्यात्मनो मायां यथाभासो यथा तमः ॥

(भागवतम्, 2/9/33)

अयं भावः। आत्मनि सति वस्तुरूपे, यद् भासते न वा भासते कदाचित् सा तादृशी भवति आत्मनो माया। आभासो मृगतृष्णादिस्तमश्च राहुः, असन्नपि भासते। भासमानं च बुद्धावेव ख्यायते। एवं च बुद्धिसत्ख्यातिर्द्विधा दृष्टा, व्यावहारिकी प्रातिभासिकी चेति। प्रापञ्चिकी ख्यातिर्व्यावहारिकी स्वप्नादिविषयिणी च प्रातिभासिकी। स्वरूपदर्शनात् प्राग् व्यावहारिकी ख्यातिर्जायमाना तिष्ठति, सति च स्वरूपदर्शने विलीयते। स्वाप्नी ख्यातिस्तु आत्मदर्शनं विनापि व्यावहारिकेण बाधेन बाध्यते। तथा चाहुः शङ्कराचार्यपादाः ---

प्राग् ब्रह्मादिदर्शनाद् वियदादि - प्रपञ्चो व्यवस्थितः, स्वाप्नस्तु प्रतिदिनं बाध्यत इति।

(ब्रसू-भाष्य 2/1/14)

+ + + + +

पाणिनीये वैयाकरणदर्शने बुद्धिसत्तां विहाय नान्या गतिः।

सन्धिकार्येषु वर्णानां पूर्वापरव्यवस्था बुद्धिसत्तामुपजीव्यैव सम्भवति, क्षणध्वंसिनां वर्णानां पौर्वापर्यानुपपत्तेः। पूर्वोच्चारितश्चेत् पूर्वो वर्णस्तर्हि अनुच्चारितस्य परत्वं न घटते; परस्य चोच्चारणकाले लब्धध्वंसस्य वर्णस्य पूर्वत्वं नावकल्पते। 'रामः' इत्यादि-प्रकृतिप्रत्ययकल्पनाऽपि बुद्धिसत्ख्यातिमेवानुरुणद्धि। अपि च ---

'पूर्वत्रासिद्धम्।' (पासू, 8/2/1)

इत्यस्मिन् प्रकरणे सिद्धस्यापि कार्यस्य बुद्धिसत्ख्यातमेवासिद्धत्वम् परिकल्पन्ते विचक्षणाः। अपि च ---

'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ।' (पासू, 1/1/56)

इति सूत्रेणादेशस्य स्थानिवत्त्वं बुद्धावेव ख्यातं भवति। किञ्च---

'लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने।' (पासू, 1/2/51)

इति सूत्रानुसारेण स्त्रीलिङ्गभूतश्चञ्चाशब्दः पुंसि प्रयुज्यते, तत्र बुद्धिसदेव स्त्रीत्वमारोप्य व्यक्तिवचनयोर्व्यवस्था जायते।

+ + + + +

नाटकादिषु हन्ति, हतवान् हनिष्यतीत्यादि प्रयुज्यते। तत्रेयं विप्रतिपत्तिः---

"सतो हि कार्यिणः कार्येण भवितव्यम्"

(मभा-पासू, 1/1/1)

कथमसतो रावणादेः कालत्रये वधादिकार्यं स्यात्? अपि च क्रियाया गमनादेः खलु त्रिकालता कथं सङ्गच्छेत ---

"अनागतमतिक्रान्तं वर्तमानमिति त्रयम् ।

सर्वत्र च गतिर्नास्ति गच्छतीति किमुच्यते ॥"

(मभा, पासू 3/2/123 वार्तिक-5)

अयमाशयः। क्रियायाः क्षण एव वर्तमानतां भजति। प्रतीतिक्षणे स क्षणो वंसमेति, भावी क्षणो वर्तमानतां याति पुनरसावतीततां भजत इत्येवं गतेर्व्याख्या नैव कर्तुं पार्यते। कुतः ---

“क्रिया नामेयमत्यन्तापरदृष्टानुमानगम्या न शक्या पिण्डीभूता  
निदर्शयितुम्।” (मभा, पासू, 3/2/102)

किमत्र समाधानमिति चेदुच्यते-

“बुद्धौ कृत्वा सर्वाश्चेष्टाः कर्ता धीरस्तत्त्वन्नीतिः।  
शब्देनार्थान् वाच्यान् दृष्ट्वा बुद्धौ कुर्यात् पौर्वापर्यम्॥”  
(मभा, पासू 1/4/109)

एवम्भूतेषु स्थलेषु विविधश्चेष्टाः, तासां च पौर्वापर्यं शब्दार्थसम्बन्धं  
च बुद्धिसत्ख्यातिमेव भजतीत्याशयः। नाटकादिविषयेष्वपि ---

“उत्पत्तिप्रभृति आ विनाशाद् ऋद्धीर्व्याचक्षाणाः सतो बुद्धिविषयान्  
प्रकाशयन्ति।” (मभा, पासू 3/1/26)

इत्यमेवम्, उत्पत्तिमारभ्य विनाशपर्यन्तं समृद्धीनां बुद्धिसतीनामेव समायोगो  
भवति। तत्र तत्र कार्यकारणसम्बन्धोऽपि बुद्धिसन्नेव व्यवहारभाग्  
भवतीति।

+ + + + +

भाष्योक्तमेव मनसिकृत्य कारिकाबन्धं विधाय शब्दार्थसम्बन्धविषयिणीं  
बुद्धिसत्ख्यातिं प्रास्तौत् ---

“नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह।  
आवृत्तपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते॥ (वाप 1/84)

इदमत्राकूतम्। क्षणध्वंसिभिर्वर्णैः शब्दसङ्घटना सङ्घातात्मिका  
कथं ख्यातिं लभत इति प्रश्नः। तत्रेदमुत्तरम्। प्रथमध्वनिमारभ्यान्तिम-  
ध्वनिपर्यन्तं सर्वेषां ध्वनीनां संस्कारा बुद्धौ जायन्ते। परिपाकं लब्ध्वा  
च बुद्धावेव शब्दरूपं भजन्ते। अत्रापि बुद्धिसत्ख्यातिं विहाय नान्या  
गतिः। अपि च यथा क्षीरस्य दधिरूपः परिणामः, बीजस्य चाङ्कुररूपो  
विकारः क्रममपेक्षते, तथैव क्रमः शब्दानां बुद्धौ जायते ---



“यथानुपूर्वीनियमो विकारे क्षीरबीजयोः।

तथैव प्रतिपत्तुणां नियतो बुद्धिषु क्रमः॥” (वाप 1/91)

कथमियं ख्यातिर्बुद्धौ घटते। परिणामे प्रतिक्षणं भिद्यमाना  
विकाराः कथमेकत्वं लभन्ते। कथञ्च क्षणध्वंसिनां ध्वनीनां सङ्घातरूपः  
शब्दो जायते। अत्राहुः ---

बुद्ध्येकं भिद्यते भिन्नमेकत्वं चोपगच्छति।

बुद्ध्यावस्था विभज्यन्ते सा ह्यर्थस्य विधायिका॥

(वाप 3/14-15)

अपि चैकस्मिन्नेव वर्णे आदित्वान्तत्वादिकल्पना बुद्धावेवाधार्यते। तत्रैक  
एव वर्णो भेदं लब्ध्वा आदिश्चान्तश्च भवति यथापेक्षम्---

व्यपदेशिवदेकस्मिन् बुद्ध्या नानार्थकल्पना।

तया कल्पितभेदः सन्नर्थात्मा व्यपदिश्यते॥

(वाप 3/14/16)

इत्थञ्च अर्थस्य बाह्यसत्तां विनापि बुद्धौ शब्दार्थाकारता सङ्घटते---

“अन्तःकरणवृत्तौ च व्यर्था बाह्यार्थकल्पना।

(वाप 3/14/94)

एक एव शब्दो बहूनामर्थानां वृत्तं संश्लिष्टमेव वक्ति। किन्तु  
व्याख्यातारो बुद्धौ विभागेनैवार्थान् व्याचक्षते, इत्येवं बुद्धिभेदोऽपि  
घटते ---

अनुस्यूतेव संसृष्टैरर्थे बुद्धिः प्रवर्तते।

व्याख्यातारो विभज्यार्थं तान् भेदेन प्रचक्षते॥

(वाप 3/14/94)

एवं खलु विशेषणकृतो विशेष्यभेदोऽपि जाघटीति ---

अङ्गदी कुण्डली चेति दर्शयन् भेदहेतुभिः।

चैत्रमीदृशमित्याह बुद्ध्यवस्था-परिग्रहात्॥

(वाप 3/14/571)

किञ्च ---

सन्नसन् वार्थरूपेषु भेदो बुद्ध्या प्रकल्पते।

(3/7/3)

अवयवान् विहाय नावयवी संघातरूपतां लब्धुमीष्टे। अवयवा अपि परिणामिषु भावेषु क्षणध्वंसिन एव भवन्ति। तथापि घटपटादेः शरीरादेश्चावयवबुद्धिर्जायत इत्येते सर्वे बुद्धिसत्ख्यातेरेव महिमानं व्यनक्तीति दिक्।

+ + + + +

अथाग्रे नव्यव्याकरणे बुद्धिसत्ख्यातेर्विवरणं प्रस्तूयते। शब्दार्थ-विवेचनं प्रक्रम्य नागेशभट्टः प्राह ---

1. शक्योर्थोऽपि बुद्धिसत्तासमाविष्ट एव न तु बाह्यसत्ताविष्टः।  
बुद्धिसतो बाह्य-सत्ता-तद्भाव- बोधनाय "अस्ति, नास्ति"  
इति प्रयोगः। किञ्च "शशशृङ्गं नास्ति, अङ्कुरो जायते"  
इत्यतो ---- बुद्धिसन्नङ्कुरो बाह्यरूपेण जायत इत्यर्थः।  
(लघुमञ्जूषा, पृ. 203)

शशशृङ्गमपि बुद्धिसत्तासमाविष्टं सद् बहिर्नास्तीति व्यवहारं प्रतिपद्यते कार्यविषयेऽपि ---

कार्यमुत्पत्तेः प्राङ् नाशोत्तरं चासदपि बुद्धिविषयतया तु  
सिद्धम्। (तत्रैव, पृ. 204)

अस्मिन् विषये भामतीकारस्य वाचस्पतिमिश्रस्य च सम्मति-  
रपि तत्रैवोद्धृता वर्तते ---

चेतनो हि नामरूपे बुद्ध्यावालिख्य घट इति नाम्ना कम्बुग्रीवादिना  
रूपेण च बाह्यं घटं निष्पादयति। निर्घर्त्यस्यापि घटस्यान्तः  
सङ्कल्पात्मना सिद्धस्य कर्मकारकत्वम्।

(तत्रैव पृ. 211, ब्रसू-भामती 1/1/2)

2. स्वप्नभ्रमादिस्थलेपि बुद्धिसत्ख्यातिरेव प्रभवति। तथा हि---  
चित्तस्य द्रवरूपो वृत्त्याख्यः परिणाम इन्द्रियप्रणाल्या निर्गत्य  
विषयेण संयुज्य सूक्ष्मावस्थारूप-विषय-वासनावशात्  
तत्तद्विषयाकारेण परिणमति, न तु तस्यां संयुक्त-बाह्यविषय-  
प्रतिबिम्बः, स्वप्नादौ बाह्यविषयासंयोगेन तत्प्रतिबिम्बासम्भवात्।  
---- सन्निकृष्टं ज्ञानाकारं विहायासन्निकृष्ट - दूरस्थरजताद्यारोपे  
मानाभावात्। “तदा दृष्टमधुना नास्ति” इति स्वरूपतो  
बाधानुभवस्यानुपपत्तेश्च। चाकचक्यादिविषयदोषवशाच्च  
चित्तवृत्तेस्तथा परिणामः। (तत्रैव, पृ. 211)

3. अन्यथाख्यातिवादिनां नैयायिकानां मतं प्रत्याचक्षणः प्रावोचत्---  
“एतेन ज्ञानलक्षणसन्निकर्षेण हट्टेनुभूतरजतधर्मप्रकारिका  
शुक्तिप्रतीतिरित्यपास्तम्। अन्यथोपपत्तेः। (तत्रैव, पृ. 216)

नैयायिका हि ज्ञानलक्षणाया प्रत्यासत्त्या आपणेनुभूतस्य रजतस्य  
प्रकारमलौकिकप्रत्यक्षविषयीकृत्य रजतत्वप्रकारकशुक्तिविषयकप्रतीतिं  
जायमानां स्वीकुर्वते। तन्ना बुद्धिसत्ख्यात्यैव भ्रमस्य व्याख्या सङ्गच्छमाना  
ज्ञानलक्षणायां कल्पनागौरवं च सङ्केतयन्ती बुद्धिसत्ख्यातिः  
सर्वैरङ्गीकरणीयैव। ज्ञानलक्षणापि अनुयोगिनं प्रतियोगिनं च विना  
कथङ्कारं घटते। न हि भ्रमस्थले आपणोऽनुयोगी, प्रतीतिविषयस्य  
शक्तिस्थलस्यैवानुयोगित्वात्। बुद्धिसत्ता-स्वीकारे तु प्रतियोगिनो रजतस्य  
अनुयोगिन्यां बुद्धौ सम्बन्धो घटत इत्यत्र को विवादावसरः। अत एव  
महाभाष्यकाराः प्राहुः---

यथा मृगास्तृषिता अपां धाराः पश्यन्ति, न च ताः सन्ति।  
यथा गन्धर्वनगराणि दूरतो दृश्यन्ते, उपसृत्य च नोपलभ्यन्ते।”  
(मभा, पासू 4/1/3)

अपि प्रावोचनागेशः ---

भ्रमे यावद् विशेषदर्शनं बहिः सत्त्वेन प्रतीतिस्तु तत्राधिष्ठानगत-  
सत्त्वारोपात्। (लघुमञ्जूषा, पृ. 220)



इत्थञ्च बुद्धिगतस्यैव रजतस्य सत्ता शुक्तिरूपेऽधिष्ठाने कृतारोपा प्रतीयत इति न बुद्धिसत्ख्यातिमतिक्रामति व्यवहारः।

4. अनिर्वचनीयख्यातिवादं खण्डयन् नागेशो जगाद ---  
यत्तु अनिर्वचनीयं सदसद्विलक्षणं जलादि मृगतृष्णादौ उत्पद्यत  
एवं ब्रह्मणि प्रपञ्चो मृदादौ घटः स्वप्नश्चेति, तन्न।  
तादृशानिर्वचनीयस्य वक्तुमशक्यत्वात्। किञ्च, तस्य सदिभन्न-  
त्वादसत्त्वमसदिभन्नत्वात् सत्त्वमापततीति उभयरूपत्वमेवायाति।  
तत्र सत्त्वमारोपितमिति भेदाभेदयोरिव तयोर्न विरोधः।  
धर्मद्वयानाक्रान्तस्य लोकव्यवहारे अभावाच्च। (तत्रैव, पृ. 229)

अनिर्वचनीयतामनङ्गीकुर्वन् नागेशः प्रोवाच ---

बुद्धिसद् वा तत्। भ्रमप्रकारत्वमेव मिथ्यात्वम्। रजतं पश्यामीति  
अनुव्यवसायोपि दोषवशाच्चाक्षुषत्वांशे भ्रम एव।

(तत्रैव, पृ. 235)

इदमत्र तात्पर्यम्। बुद्धिसत्तामपेक्ष्य रजतज्ञानं प्रमा, बाह्यदेशे शुक्तौ  
रजतस्य चाक्षुषत्वं तु भ्रम इति। इन्द्रियेण सहैव हि बुद्धिर्विपरिणामं  
लभते ---

चित्तस्य विषयाकार-परिणामरूपा वृत्तिश्चेन्द्रियेण सहैव, अत  
एव रसनेन्द्रियगतपित्तान्वयेन गुडः कटुरिति, नयनगतपित्तान्वयेन  
शङ्खः पीत इत्याद्युपपद्यते। (तत्रैव, पृ. 298)

5. स्मृतिप्रमोषेण विपरीतख्यातिमनुरुन्धानानां भाट्टानां मतं  
प्रत्याचक्षाणोऽब्रवीत् ---

अनुभवविरुद्ध-तादृशस्मरण- कल्पते मानाभावाच्च, सर्वत्र  
स्मरणेऽनुभवसमानाकारत्वस्यैव दर्शनात्। (तत्रैव, पृ. 323)

इत्येवं बुद्धिसत्ख्यातिवादो विविधदर्शनेषु कार्यकारणसम्बन्धं  
शब्दार्थसम्बन्धं भ्रमञ्च साधु व्याचष्टे। तत्र तत्र ख्यातिवादिषु च  
साहाय्यं करोतीति शम्।

## सङ्कुचित-सत्ख्यातिवादः

प्रत्यभिज्ञादर्शने प्रपञ्चस्य सत्यत्वं नित्यत्वं च समाम्नायते। शक्तिर्हि संकोचं गृह्णाना जगद्रूपतां निर्वहति। तथैव संकोचं नीतः शिवोऽपि क्रमेण जीवरूपतां प्रपद्यते। ज्ञानस्वरूपं शिवः, अथवा ज्ञानं तस्य शक्तिः। ज्ञानं नाम न शिवात् पृथक् किञ्चिदिति तत्संकोचेनैवाल्पज्ञता फलति। सोमानन्दनाथेन तथैव निरटङ्क ---

व्यवहारतथैवास्ति सत्यत्वं च निबन्धनात्।

विकल्पादेः समुत्पत्तिः सत एव प्रजायते॥

नाभाष्य व्यवहारार्थमेवं वस्त्विति निश्चितम् ।

तथैवास्तु शिवावस्था केनासौ विनिवारिता ॥

(शिदृष्टिः, 4/13-14)

उत्पलवृत्तिमनुसृत्यायं भावः। व्यवहारो न रूढिवशात् सत्यः, किन्तर्हि, व्यवहारतथैव तस्य सत्यत्वं सिध्यति। शुक्त्यादिषु रजतादेरपि समुत्पादः सत एव तत्त्वाद्, न त्वसतः, भाषयैव सर्वेषां व्यवहाराणां जननात्। न हि शब्दानुवेधादृते कोऽपि व्यवहारः। एवं च सर्वस्यैव शिवरूपतेति। ननु परक्षणोत्पन्नेन ज्ञानेन रजतज्ञानस्य बाधो लभ्यते, तेन प्रतिभासस्य मिथ्यात्वं सेत्स्यतीति चेन्मैवम् ---

अकाले जननं किञ्चिद् बाध्यते वा जनिक्रिया।

कृत्वा कार्यं क्रिया याता, गतायां किं प्रबाध्यते॥

(तत्रैव, 4/16)

ज्ञानजननक्रिया खलु पूर्वं ज्ञानमुत्पाद्य न क्षणं तिष्ठति। रजतज्ञानक्षणे रजतप्रत्ययो यथार्थः। द्वितीयक्षणे द्वितीया क्रिया शुक्तिज्ञानं जनयेन्नाम किन्तु कं प्रत्ययं बाधेत? बाध्यत्वेनाभिमतं ज्ञानं तज्जननी च क्रियेति द्वयं बाधाभिमतक्षणे नावतिष्ठते। इत्थं च भ्रमो भ्रम इति घोष एव भ्रमः। न हि भ्रमस्य व्याख्या नाम सम्भवति ---



अथानुभवगा बाधा, नानुभूतोऽन्यथा भवेत् ।  
 अर्थेन्द्रियस्य बाध्यत्वं, तत्कालं यादृगिन्द्रियम् ॥  
 तदान्ध्यं जन्यते केन, तस्य कालान्तरास्थितेः ।  
 सर्वैः समत्वं बाधो वा सम्बन्धे जननं कथम् ?

(तत्रैव, 4/17-18)

शुक्तिकां शुक्तिकामेव वा रजतं वा पश्येत्, कालान्तरे इन्द्रियाणामनुभावानां  
 च ध्वंसोऽवश्यम्भावी। सन्निकर्षरूपसम्बन्धस्यापि न बाधः, सन्निकर्षं  
 विना ज्ञानस्य जननासम्भवात्। अथ ---

व्यवहारस्य बाधा चेद् व्यवहारे यथेष्टता ।  
 क्वचित् सत्यसुवर्णस्य प्रत्यन्ते व्यवहारिता ॥  
 कूटकार्षापिणादौ वा व्यवहारोऽपि दृश्यते।  
 तावता व्यवहारो वा यदात्माह्लादमात्रकम् ॥  
 अर्थक्रियासमर्थत्वमेतदेवास्य वास्तवम् ।

(तत्रैव, 4/19-21)

आत्मन आह्लादकत्वमेव बाह्यार्थसंवादो वार्थक्रियाकारित्वं वा निगद्यते।  
 अत्रोत्पलदेवः ---

भ्रान्तत्वाद् वास्तवस्वप्नजलस्य पानाद्यर्थक्रिया भ्रान्तापि  
 स्यात्, तृष्णिवृत्त्या तु तृप्तिः स्वसंवेदनसिद्धा न विसंवदति।  
 (तत्रैव, वृत्तिः)

अपि चाग्रे निजगाद शिवदृष्टिकारः ---

अथ चेद् देशबाधो वा तद्देशे रजतं नहि ॥  
 यत्र काले सरजतो देशोऽभूत् स गतस्तदा ।  
 कालान्तरेण देशोऽसौ का बाधा देशकालयोः ॥

(421-22)

ज्ञानस्य तु बाधो नैव सम्भवतीति प्राह-

ज्ञानान्तरेण ज्ञानं तद्विरोधादथ बाध्यते ।  
 न बाधो भिन्नकालत्वात्, प्राक्तनस्याप्यभावतः।

(4/23)



सहानवस्थानरूपो विरोधो ज्ञानद्वितये नास्तीत्याह ---

सहानवस्थितिर्नास्ति विरोधः, प्राग्विनाशतः ।

अन्योन्यपरिहारो वा ज्ञानाज्ञानात्मनः स्थितः ॥ (4/24)

ज्ञानस्याज्ञानेनाज्ञानस्य च ज्ञानेन परिहारो दृष्टो न तु ज्ञानस्य ज्ञानेन।  
ज्ञानाज्ञानयोः प्रकाशतमसोरिव सहावस्थितेरसम्भवेन बाध्यबाधकभावः  
कथमिव घटते ज्ञानविषयतां गतमज्ञानमपि ज्ञानरूपतां भजति---

अज्ञानत्वं परिज्ञाते तदा स्यात् स्वविरोधिता ।

अज्ञानत्वं स्वभावेन विरोधः केन वार्यते ॥ (4/25)

एवं च चिन्मात्रमेव सर्वमिति यथार्थेन ख्यातिः ---

तस्मादवस्थितं सर्वं सत्त्वं चिद्व्यक्तियोगिता।

यत्र यत्र तत्र तत्र सत्यत्वं विश्वरूपता ॥ (4/29)

तथा हि अद्वैतमेव फलितम् । सत्ये शिवे परमात्मनि संकोचेन  
जगदुन्मील्यते ---

विनैकत्वं च न भवेत् कारकत्वं कदाचन ।

शशशृङ्गादिके नापि स्याद् विभक्तिसमन्वयः ॥

सर्वथा भावशब्दस्य नास्त्यभावात्मकं क्वचित् ।

(4/32-33)

संकोचकृता परिच्छिन्नाभिव्यक्तिः शिव एव शिवस्यैव शिवरूपैवेति  
सिद्धान्तयन्तः प्राहुः ---

इतोऽपि सर्वशिवता सत उत्पत्तियोगतः ॥

स एवास्ते पुरा तादृक्शक्तिरूपस्वरूपकः।

स एव कार्यरूपेण भगवानवकल्पते ॥

(4/33-34)

प्रत्यभिज्ञादर्शने विवेकपर्यायोऽपि ख्यातिशब्दो लभ्यते। तेनाविवेक  
इत्यख्यातिरिति पर्यायौ। पञ्चानां कञ्चुकानां प्रकृत्यादितत्त्वानां चतुर्विंशत्या  
च शरीरादीनां रचनेहाभ्युपेयते। परमात्मरूपं चैतन्यं तस्मिन् सङ्घाते  
मायया कञ्चुकितं सत् परमार्थसत्तायाः ख्यातिं कर्तुं न प्रभवति। सैषा

‘अख्यातिः’। तथा हि ---

कालादीनां तत्त्वानामविवेको माया। (शिवसूत्रम् 3/3)

सूत्रं विवृण्वानो वरदराजः प्राह ---

अन्तरन्तः स्फुरत्किञ्चित्कर्तृत्वादिप्रदायिनाम् ।

कलादिक्षितिपर्यन्ततत्त्वानां कञ्चुकात्मनाम् ॥

पुर्यष्टकमयत्वेन स्थूलदेहादिरूपतः ।

स्थितानामविवेकस्तेष्वात्मत्वेनानुसंहितिः ॥

सैव सम्प्रोहिनी माया तत्त्वाख्यातिमयं जगत् ।

(शिसूत्रवार्तिकम् 3/14-16)

कञ्चुकानि पञ्च, स्थूलसूक्ष्मकारणशरीराणि त्रीणीति अष्टौ पुरः। तत्र स्थितस्य परिच्छिन्नस्य सङ्कुचितस्य चैतन्यस्याख्यातिः स्वाभाविकी, सा चेयं स्वप्नविवरणेन स्फुटतामनीयत ---

स्वप्नः स्वात्मैव सम्प्रोक्तो विकल्पाः स्वात्मसम्भवाः।

अविवेको निजाख्यातिर्माया मोहस्तदात्मकः ॥

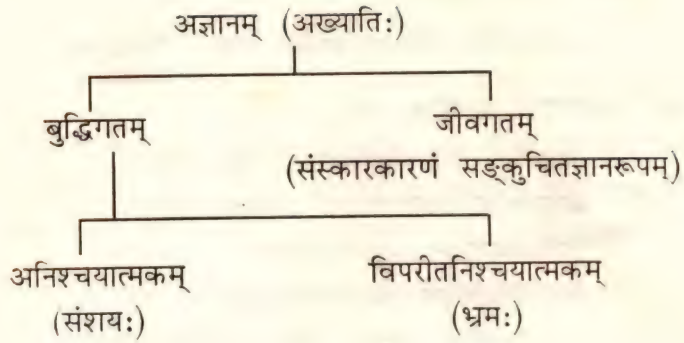
(तत्रैव 1/47)

+ + + + +

अत्र दर्शने ज्ञानस्य सङ्कुचितं रूपमेवाज्ञानमिति यत्र भ्रमस्तत्र सङ्कुचितं ज्ञानमव तद्रूपं स्थाप्यते। आहुश्चाभिनवगुप्तपादाचार्याः---

द्विविधं चाज्ञानं बौद्धं पौरुषं च। तत्र बुद्धिगतमनिश्चयस्वभावं विपरीतनिश्चयात्मकं च। पौरुषं तु विकल्पस्वभावं सङ्कुचितप्रथात्मकम्। तदेव च मूलकारणं संसारस्य।

(तन्त्रसारः, पृ. 3)



बुद्धिरपि ज्ञानस्य सङ्कुचितं रूपमिति सर्वथेह सङ्कुचितख्यातिवादस्य प्रसारः। तथैव च पुरा स्थापितम्। ननु तर्हि अख्यातिरूपो भ्रम इत्यन्यथाख्यातावेवान्तःपात इति चेन्न। अख्यातिरपीह ख्यायमानाऽभावरूपतां विहाय भावरूपा ख्यातिरेव भवति। तथा चाहुः क्षेमराजाचार्याः---

अख्यातिर्यदि न ख्याति ख्यातिरेवावशिष्यते ।

ख्याति चेत् ख्यातिरूपत्वात् ख्यातिरेवावशिष्यते ॥

(प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, 4)

+       +       +       +       +

काश्मीरशैवानामयं ख्यातिवादः सत्ख्यातिवाद इति वा यथार्थख्यातिरिति वा व्यवहर्तुं युज्यते। तत्रायं विवेकः ---

1. अविवेकपर्यायं इहाख्यातिशब्दो मायाकृतमात्मानात्मविवेकाभावो वक्ति। व्यवहारे नाख्यातिशब्दः प्रयुज्यत इत्यतः प्राभाकराणामख्यातेर्भेदः।
2. प्रभाकरमीमांसकानां यथार्थख्यातेः शैवानां सत्ख्यातिरपि विशिष्यते। अत्र दर्शने शिवतत्त्वं सत्। तस्य शक्तिवैविध्यं येन ज्ञानवैविध्यमास्थीयते। स च शक्तिसंकोच एव। प्राभाकरास्तु व्यावहारिकं भ्रमादिकं ज्ञानरूपेण यथार्थमङ्गीकुर्वन्ति। तेषां हि दर्शने एकतत्त्ववादमास्थाय न



व्याख्यायत इति।

3. तत्त्वानामन्योन्यसमावेशमनुसृत्य विशिष्टाद्वैतिनां या सत्ख्यातिस्तत्र भ्रमस्थलेऽपि तत्त्वसमानता न हीयते किन्तु प्रत्यभिज्ञादर्शिना एकस्यैव तत्त्वस्य मायाकृतसंकोचेन ख्यातिं प्रतिष्ठापयन्तः प्रकारान्तरेण सत्ख्यातिमनुरुन्धन्ति यत्राज्ञानमपि ज्ञानस्यैव सङ्कुचितं रूपम् ।
4. शैवाद्वैतवादिना इमे प्रपञ्चं शिवरूपं मन्वाना न तत्त्वतो भ्रमं स्वीकुर्वन्ति।
5. चितिसङ्कोचात्मा चेतनोऽपि संकुचितविश्वमयः।

(प्रत्यभिज्ञाहृदयम् 4)

इत्थं च भ्रमस्थले सङ्कुचितैव ख्यातिरपि। सङ्कोचोऽपि खलु शिवरूप एव---

ग्राहकोऽप्ययं प्रकाशैकात्म्येन विश्वशरीरशिवैकरूप एव, केवलं तन्मायाशक्त्याऽनभिव्यक्तस्वरूपत्वात् सङ्कुचित इवाभाति। सङ्कोचोऽपि विचार्यमाणश्चिदैकात्म्येन प्रथमानत्वाच्चिन्मय एव।

(तत्रैव)

इयमेवापूर्णख्यातिः। शक्तिसंकोचेन हि पूर्णः शिवः परमात्मैवापूर्णतां भजतीति शम्।

+ + + + +

## सदसत्ख्यातिवादः

कापिलाः खलु सदसत्ख्यातिवादं प्रतिष्ठापयन्ति। तथा च  
सूत्रम् ---

गुणादीनां च नात्यन्तबाधः। (सांख्यसूत्रम् 5/26)

असत्ख्यातिस्तावन्न सम्भवति ---

नासतः ख्यानं नृशङ्गवत्। (तत्रैव, 5/52)

सत्ख्यातिवादोऽपि न घटते ---

न सतो बाधदर्शनात् । (तत्रैव, 5/53)

पूर्वज्ञानं परज्ञानेन बाध्यत इति कुतः सत्ख्यातिः? ननु तदर्थनिर्वचनीयख्यातिः  
स्याच्चेन्न ---

नानिर्वचनीयस्य तदभावात् । (तत्रैव, 5/54)

मनुष्यविषाणमिवैव वस्तुनोऽन्यथात्वं स्यात्। तदा का नाम तत्र  
ख्यातिः? नावस्तुनः ख्यातिर्भवतीति। इत्थं च सदसत्ख्यातिरेव शरणम्।  
तथा च सूत्रम् ---

सदसत्ख्यातिर्बाधाभावात्। (तत्रैव 5/56)

विज्ञानभिक्षुणा तदेव स्पष्टीकृतम् ---

सदसत्ख्यातिरेव सर्वेषां गुणादीनाम्। कुतः? बाधाभावात्।  
तत्रस्वरूपेणाबाधः सर्ववस्तूनां नित्यत्वात्। संसर्गतस्तु बाधः  
सर्ववस्तूनां चैतन्येऽस्ति यथा घटादिषु लौहित्यादेस्तद्वत्।  
तथावस्थाभिरपि बाधोऽखिलपरिणामिनां कालादिषु।

बाधस्य कोऽर्थ इत्याह ---

बाधश्च प्रतिपन्नधर्मिणि निषेधबुद्धिविषयत्वम्। असत्त्वं स्वभावः  
सोऽप्यधिकरणस्वरूपः।

अधिकरणरूप एवाभाव इत्यसत्त्वं वस्तुनः स्वभावः। तत्रैवाधिकरणे भावस्य सत्ता प्रतीयत इति सदसत्ख्यातिरेव सिद्धान्तः। अभावमधिकरणरूपं निरूपयन् वाचस्पतिमिश्रोऽप्याह ---

न हि भूतलस्य परिणामविशेषात् कैवल्यलक्षणादन्यो घटाभावो नाम। प्रतिक्षणपरिणामिनो हि सर्व एव भावा ऋते चितिशक्तः।

(तत्त्वकौमुदी, कारिका - 5)

इदमत्र तात्पर्यम्। एकैनावस्थापरिणामेन वस्तु सत् प्रतीयते, द्वितीयेन चासत्प्रतिपत्तिरपरिहार्या। प्रकारभेदादेकस्मिन्नेव धर्मिणि धर्मविशेषेण सतो धर्मान्तरेण चासतः ख्यातिरिति न कश्चन विरोधः। तथा च विववार विज्ञानभिक्षुः ---

यथा हि लौहित्यं बिम्बरूपेण सत् स्फटिकगतप्रतिबिम्बरूपेण चासदिति दृष्टम्। यथा वा रजतं वणिग्वीथीस्थरूपेण सत् शुक्ल्यध्यस्तरूपेण चासत्। सर्वं जगत् स्वरूपतः सत् चैतन्यादौ अध्यस्तरूपेण चासत्। (प्रवचनभाष्यम्, सां.सू. 5/56)

अपि चाग्रे तत्रैव ---

एवमवस्थाभेदेनापि सदसत्त्वमविरुद्धम्। यथा हि वृक्षादिः प्ररूढाद्यवस्थाभिः सन्नङ्कुराद्यवस्थाभिरसन् भवति तथैव प्रकृत्यादिकं सदसदात्मकम्।

उपरिष्ठाच्च भाष्यकृता पौराणिकं प्रमाणमुपस्थाप्यत ---

अव्यक्तं कारणं यत् तन्नित्यं सदसदात्मकम्।

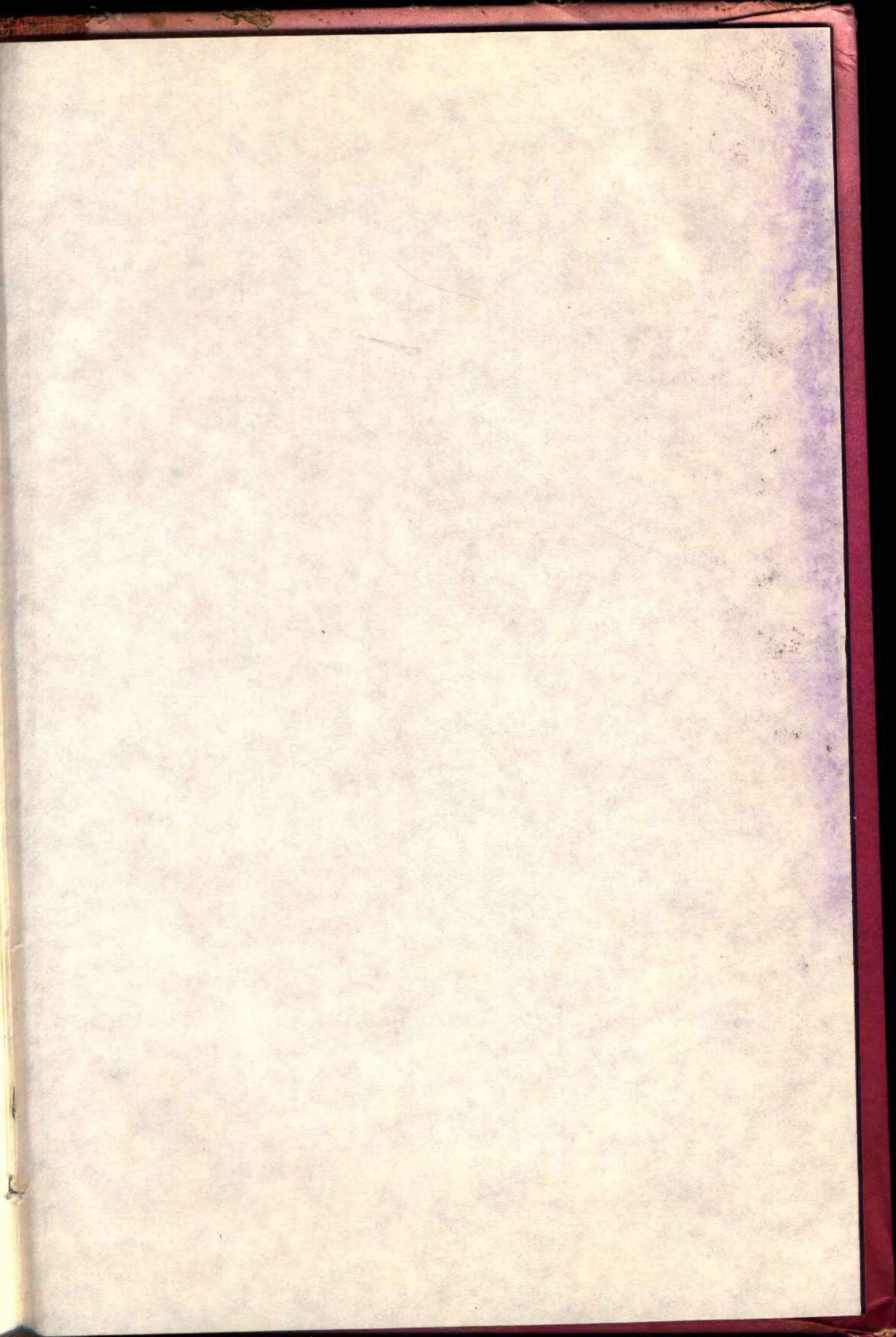
प्रधानं प्रकृतिश्चेति यदाहुस्तत्त्वचिन्तकाः ॥

(विष्णुपुराणम्, 1/2/9)

सदसत्ख्यातिस्तावत् सांख्यानामेव सिद्धान्तो न तु योगानाम्। पातञ्जलास्तु विपरीतख्यातिमुपस्थापयन्ति। तच्च तत्रैव द्रष्टव्यम्।









## अकादेमी के प्रकाशन

|  |                             |   |
|--|-----------------------------|---|
| 1. वादत्रयी  | -                           | पं. बच्चूलाल अवस्थी 'ज्ञान'                 |
| 2. शिवमहिम्नस्तोत्रस्य हरसिद्धि टीका-                | पं. बच्चूलाल अवस्थी 'ज्ञान' |   |
| 3. पाणिनीयशिक्षा त्रिनयनभाष्य                        | -                           | पं. बच्चूलाल अवस्थी 'ज्ञान'                 |
| 4. ऋतुसंहारम् (हरसिद्धि टीका)                        | -                           | पं. बाबूलाल शुक्ल 'शास्त्री'                |
| 5. संस्कृत सुभाषितेषु<br>कालिदास-प्रशस्तिः           | -                           | हरिश्चन्द्र पाणिग्राही                      |
| 6. कालिदास का वागर्थ                                 | -                           | डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित                     |
| 7. कालिदास   | -                           | डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित                     |
| 8. संस्कृत वाङ्मय में<br>विक्रमोर्वशीयम् के कथासंकेत | -                           | सन्तोष पण्ड्या                              |
| 9. मेघदूत (बुन्देली रूपांतर)                         | -                           | पं. गुणसागर सत्यार्थी                       |
| 10. मेघसंदेश (अनुवाद)                                | -                           | डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी                      |
| 11. हलकासे बादल (अनुवाद)                             | -                           | डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित                     |
| 12. कुमारसम्भव (अनुवाद)                              | -                           | डॉ. जगदीश शर्मा                             |
| 13. मेघदूत (अनुवाद)                                  | -                           | डॉ. जगदीश शर्मा                             |
| 14. ऋतुसंहार (अनुवाद)                                | -                           | डॉ. जगदीश शर्मा                             |
| 15. कालिदास सन्दर्भ-कोश                              | -                           | डॉ. जगदीश शर्मा                             |
| 16. कालिदास बिम्बिलओग्राफी                           | -                           | डॉ. जगदीश शर्मा                             |
| 17. कालिदास ने कहा था                                | -                           | डॉ. जगदीश शर्मा                             |
| 18. मालवी लोकगीत                                     | -                           | भावसार 'बा' एवम्<br>डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित |
| 19. लोकनाट्य माच                                     | -                           | राजेन्द्र अवस्थी                            |
| 20. कुडिआट्टम्                                       | -                           | शरद शर्मा                                   |

## पत्रिका

कालिदास शोध-पत्रिका के विविध अंक तथा  
'वृत्तान्त' अकादेमी का बुलेटिन